5792

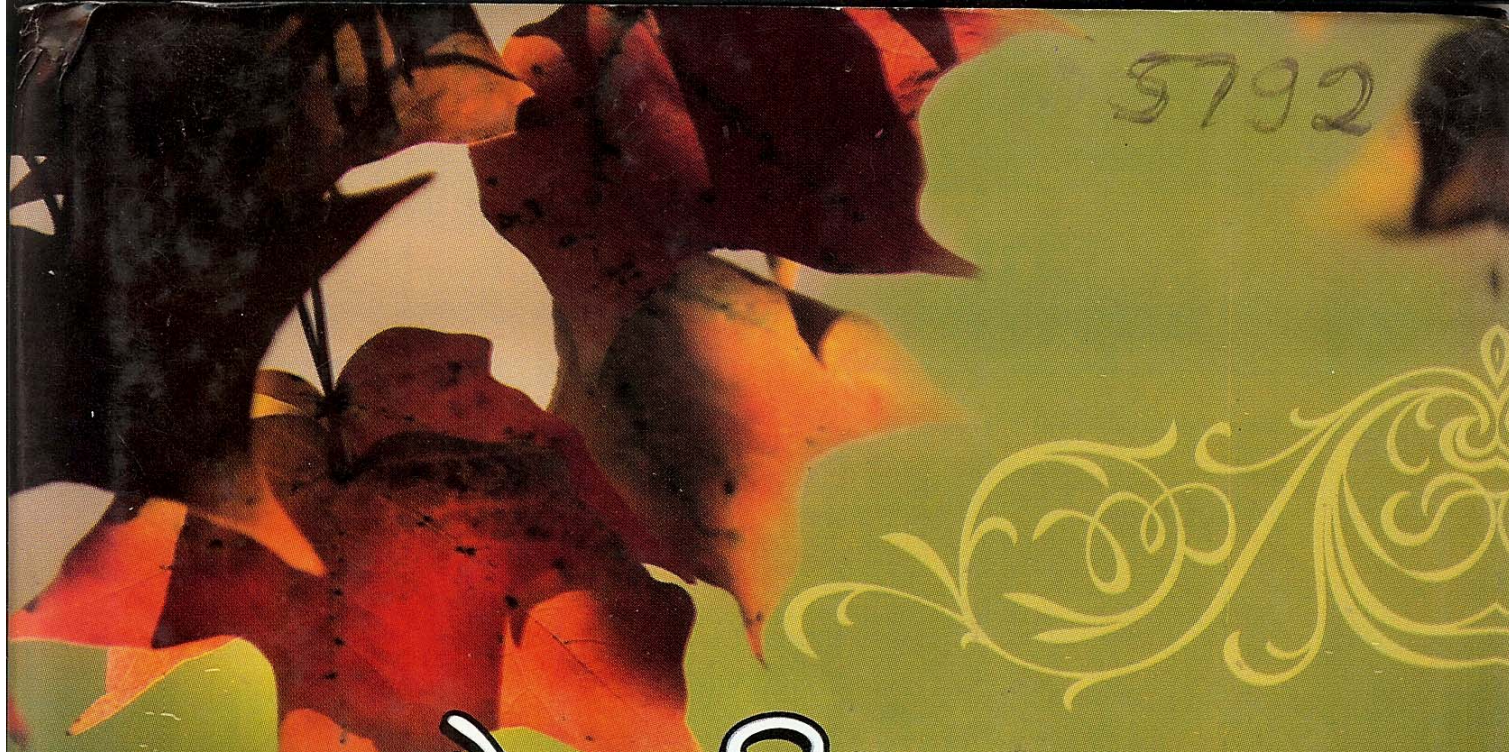

लोकजीवन के बदलते संदर्भ

डुमन लाल ध्रुव

लोकजीवन के बदलते संदर्भ

डुमन लाल ध्रुव

प्रकाशक

आशु प्रकाशन इलाहाबाद

लोकजीवन के बदलते संदर्भ

ISBN : 978-81-85377-06-3

प्रकाशक:
आशु प्रकाशक
1143/31, पुराना कटरा
इलाहाबाद-211002
मो. +91-9415614316

प्रथम संस्करण:
2016

मूल्य:
एक सौ पचास रुपये

अक्षर संरचना एवं आवरण:
जय प्रिंटर्स
62 चक, इलाहाबाद
मो. +91-7607190562

मुद्रक :
जय प्रिंटर्स
62 चक, इलाहाबाद
मो. +91-7607190562

श्रद्धेय ज्ञानेश्वर शर्मा जी

एवं

कविता, युगान्तर, मयंक

के लिए.....

अनुक्रम

1.	छत्तीसगढ़ी लोक कलाओं के राष्ट्रीय स्वरूप	09
2.	मानव जाति की विराट भाव व्यंजना	13
3.	जन-जीवन का अभिन्न अंग लोकगीत	18
4.	शौर्य कला का सृजनात्मक उत्स	26
5.	लोकमानस का समवेत स्वर लोक साहित्य	33
6.	लोक संस्कृति का रंग और धरती का प्रणय	36
7.	संस्कृति में प्रतिबिम्बित लोक साहित्य	39
8.	छत्तीसगढ़ में लोक नृत्यों पर बढ़ता संकट	43
9.	संवेदनात्मक अनुभूति का आधार संगीत	47
10.	छत्तीसगढ़ी लोकनाटकों का समीकरण	58

लोकजीवन एवं बदलते संदर्भ

लोक साहित्य पर केन्द्रित डुमनलाल ध्रुव की यह दूसरी पुस्तक है। इसमें लोक साहित्य, संस्कृति, जीवन एवं संगीत के संदर्भ में दस महत्वपूर्ण लेख सुधि पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इस संग्रह के एक लेख 'कला का सृजनात्मक उत्स' में लोक साहित्य के विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

डुमन लाल ध्रुव का प्रश्न है कि ''मनुष्य के मन में कला सृजन की कामना ही क्यों उत्पन्न हुई ?उत्तर है– मनुष्य ने अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिये प्रकृति से जो संघर्ष किया उस सक्रिय संघर्ष के दौरान में जीवन की आवश्यकताओं के बीच ही कला का जन्म हुआ। कला के माध्यम का प्रथम स्वरूप सामाजिक अवस्था पर निर्भर करता है। कला का कला के रूप में जन्म बहुत बाद की बात है। ''लोक साहित्य का प्रारंभिक रूप सामूहिकता का है। सामूहिक श्रम, कृषि कार्य, जीवन संघर्ष करते हुए लोक गीतों, लोक नृत्यों, लोक कथाओं और लोक नृत्य का जन्म हुआ। कला व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की समस्या से दूर थी। लोक साहित्य का सामाजिक सरोकार है। उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह स्वउद्भूत है। नैसर्गिक रूप से यह निर्मित और विकसित होता रहा। आज भी बस्तर में दिन भर के परिश्रम के बाद रात्रि में एकत्रित होकर गीत संगीत के साथ नृत्य में भाग लेना और आधी रात तक प्रसन्न मन से थिरकते रहना उनकी दिनचर्या का अनिवार्य हिस्सा है।

भारतीय लोक जीवन का एक बहुत बड़ा हिस्सा कृषक, कृषक मजदूर, श्रमिक और आदिवासियों का रहा है। औद्योगिक परिवर्तन अभी नगरों तक ही केन्द्रित है इसीलिए भारतीय संस्कृति की केन्द्रीय शक्ति अभी भी अप संस्कृति के हमले से ज्यादा विचलित नहीं है। नगर के लोगों के लिए जरूर यह चिंता और चिंतन का विषय है। उनकी अपनी संस्कृति की जड़ सूखती जा रही है इसीलिए हवा का कोई भी पश्चिमी झोंका उसे पत्र–गाछ विहीन ठूंठ बनाने में सफल रहा है।

छत्तीसगढ़ी लोक के बदलते परिदृष्य पर विचार करें तो परिवर्तन का मार्ग लोक जीवन के सामूहिक और आत्मीय परिवेश को संरक्षित रखकर लाया जा सके तब तो वह संस्कृति को भी ऊर्जावान बनायेगी। लेकिन परिवर्तन की दिशा यदि आत्म केन्द्रित निजत्व की ओर ले जाने का प्रयास करेगी तो, धीरे–धीरे लोक जीवन भी नागरिक जीवन की तरह अकेलेपन, घुटन संस्कृति विमुखता तथा अवसाद से घिरता जायेगा। अभी जो सांस्कृतिक विघटन नगरों में जारी है वह आगे चलकर बढ़ती ही जायेगी।

डुमन लाल ध्रुव ने छत्तीसगढ़ के लोक नृत्य पर बढ़ता संकट लेख में चेतावनी देते हुए लिखे हैं– निरंतर कलुषित होते जीवन को देखते हुए इक्कीसवीं सदी में लोकनृत्य क्या आकार ग्रहण करे यह समय बताएगा, लेकिन अब भी समय है कि उनकी ऊर्जा, खोटी रचनात्मकता को बचाया जाए। फिल्मों में लोकनृत्य के नाम पर जो फूहड़ कोरियोग्राफी की जा रही है वह उसके पारम्परिक स्वरूप को नष्ट करने की दिशा में सक्रिय है।

'छत्तीसगढ़ी लोक नाटकों का समीकरण' के अंतिम अंश में डुमन लाल ध्रुव ने लोक नाटकों की शक्ति तथा प्रस्तुत विशेषता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि– 'लोकनाट्य बरसों तक लोकप्रिय बना रहता है जबकि आज का अच्छा से अच्छा नाटक दस बीस बार प्रदर्शित होने के बाद फीका पड़ जाता है। आज के नाटक की सफलता के लिए धन की सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है। उसके लिए अच्छे रंगमंच चाहिए जबकि लोकनाट्य में ये सभी सहज ही बिना प्रयास के उपलब्ध हो जाते हैं। क्यों न हम उनसे प्रेरणा लें।'

लोक साहित्य के संदर्भ में ऐसे ही महत्वपूर्ण संदर्भों, समस्याओं और चुनौतियों की ओर इन लेखों में ध्यान आकर्षित किया गया है। आशा है पिछली पुस्तक ''छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक परिदृष्य'' के समान यह पुस्तक भी लोक साहित्य के अध्येताओं का ध्यान आकर्षित करेगी।

त्रिभुवन पाण्डेय

छत्तीसगढ़ी लोक कलाओं के राष्ट्रीय स्वरूप

लोक का अर्थ है लोक में रहने वाले प्राणी और यहां दृश्यमान पदार्थ, विशेष रूप से सचेत प्राणी और जिन्हें हम लोग कहते हैं। यह लोक व्यवहार का नियंत्रक होता है। सबसे पहले भाषा व्यवहार को ही लें। पंतजलि ने कहा कि लोक विशेष अर्थ में किसी शब्द या वाक्य का प्रयोग करता है, व्याकरण अर्थ नहीं देता वह केवल शब्द और अर्थ के संबंध का नियंत्रण करता है। वाक्य पदीयकार भर्तृहरि ने कहा यह सिद्धांत दिया कि–

'' धर्मस्यानवच्छिन्ना पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न तान लोक प्रसिद्धत्वात कश्चित तर्केणबाधते।।

व्यवहार मात्र के जितने भी पंथ व्यवस्थित हैं, निरंतर चले आ रहे हैं और लोक में मान्यता प्राप्त है, वे स्वीकार्य हैं, वहां तक के आधार पर खंडन नहीं किया जा सकता । यह श्लोक परम्परा की सटीक परिभाषा है, परंपरा की निरंतरता है, व्यवस्था है और लोक–स्वीकृति है। इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें परिवर्तन नहीं होता। इसका अर्थ प्रत्युत यह है कि व्यवस्था दूसरी व्यवस्था से विस्थापित हो कर नई व्यवस्था बनती रहती है। निरंतरता का अर्थ है कि पहले के अर्थ नए–नए अर्थो में समान तथा उसे और पूर्ण बनाते जाते हैं। लोक स्वीकृति का अर्थ है लोक के दैनंदिन व्यवहार में आकर वे जीवित होते रहते हैं।

लेकिन दुनिया में कहीं ठौर नहीं है, चैन नहीं है। यही कारण है कि लोक में दुख का शमन करने वाली जिज्ञासा है, दूसरे के दुख को वरण करने वाली वरूणा है। छोटे–छोटे लोक सुख बड़े सुख का आभास देने के लिए आते हैं, चले जाते हैं। ''चरक संहिता'' में पुरूष को लोक सम्मित कहा गया है– अर्थात पुरूष लोक के बराबर होने पर ही प्रमाण पुरूष है। इसका अर्थ यह है कि जितने भाव लोक में होते हैं उतने पुरूष में होते हैं। लोक पुरूष में भीतर–भीतर भिना रहता है। (चरक– 5/3)

लोक एक ओर किया का आश्रय होने के कारण स्थित है तो दूसरी ओर साक्षात किया हैं। लोक में प्रचलित मान्यताओं के बारे में प्रश्न करने वाले अपने भीतर से उत्तर पाने वाले संत इस लोक व्यापार को नया मोड़ देते हैं, जहां स्थिति कुछ जड़ता की ओर ले जा रही हो वहां उसे नई गति देते है। इस प्रकार इस चिंतनधारा में लोक–शास्त्र एक–दूसरे के पूरक बने रहते है।

साथ ही इसी लोक में रहते हुए जो लोग लोक के हित के लिए लोक से बाहर अपने को करके दूरगामी दृष्टि से कुछ सोंचते है और उसे अपने जीवन में उतारते हैं। वे लोकोत्तर हो जाते हैं, वे अलौकिक हो जाते है। यह लोक का विरोध नहीं, लोक में अंतर्निहित अपना ही अतिक्रमण करने वाला प्रबल संकल्प का भाव है। आदमी सोचता है, मैं तो लोकहित के लिए जी रहा हूं यह सोचते–सोचते वह अपने भीतर भयावह अहंकार को स्थान देता है। इस अहंकार से मुक्ति के लिए लोक की प्रतिष्ठा से ऊपर उठना आवश्यक होता है। इसलिए ही परमहंसो को लोक–बाह्य होना पड़ा है। वे जो कुछ करते है लोक के लिए करते है पर सोचते यही रहते है कि हम तो कुछ कर ही नहीं रहे है, हम है ही नहीं। हमारे भीतर सब के लिए कर रहा होगा, हम कहीं भी नहीं है लोक की सत्ता के भाव में रूपांतर है। भारतीय चिंतनधारा सत्ता को भाव की ओर ले जाने वाली धारा है।

छत्तीसगढ़ में लोक नाटकों की प्रतिकात्मक रंगमंचीय शैली आधुनिक नाटक की प्राण बन गई है। एक ही पात्र द्वारा एक ही जगह एक ही प्रसंग में अनेक भूमिकाएं अदा करने की प्रक्रिया विशुद्ध रूप से लोकनाट्यों से आई है। इस प्रक्रिया में भी प्रदर्शनकारी लोककलाओं के राष्ट्रीय स्वरूप को विकसित करने में मदद की है। यह प्रक्रिया गीतों में नृत्यों में तथा लोक कला की हर विद्या में प्रविष्ट हो रही है, इसे हमें विशाल हृदय से अत्यंत उदारतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

''जय महामायी महोबा के मोर
अखरा के गुरू बैताले तोर
चौसठ जोगनी पुरखा के मोर
बईहा में रहू सहाय ये मोर
जा दिन बोले मोर चंदैनी
मोर बरीगना ये ओ.....

छत्तीसगढ़ की धरती की मातृ रूप में वंदना कल्पना, जनता जनार्दन के प्रति श्रद्धा, जय विजय भाव और छत्तीसगढ़ के नदी , नाले गिरी शिखरों बनराजि के दर्शन से युक्त श्रद्धा सुरभित उभरती छत्तीसगढ़ की समस्त आकृति। लेकिन इन सब के बावजूद भी ये छत्तीसगढ़ी वंदना तो तभी हुए न जब छत्तीसगढ़ के मंच पर उदया उदित हुए, माने गये?भौगोलिक सीमाएं टूटी, क्षेत्रीय हद बंदिया टूटी। डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा के इस लोकप्रिय गीत से जन–जन जुड़े। लेकिन यह गीत अपने प्रकृति

परिवेश के कारण ही प्राणवान बने हुए है।

"जय हो छत्तीसगढ़ मईया,
अरपा पैरी के धार महानदी हे अपार
इंदिरावती हा पखारय तोर पईया
मंहू पांवे पखारत तोर भुंइयां.....जय हो.....

छत्तीसगढ़ का हर कलाकार हर व्यवस्था से उपेक्षित है, मगर जब यह जाग उठता है, चींटी जैसे क्षुद्र जीव की मदद से प्रयत्नरत हो सही जगह चोट करता है तो सारी की सारी व्यवस्था चरमरा उठती है-- यह परंपरा के सतत् अक्षुण्णता का वाहक है यानी लोकजीवन का मंच। रंग–बिरंगे परदों और प्रकाश से जगमगाता मंच नहीं। लोककलाएं सृष्टि में व्याप्त उल्लास भाव का सर्जनात्मक विलास है। जो आज के जीवन में स्वतः ही ऐसे सामूहिक जनमंचों की रूप संभावना प्रत्यक्ष हुई है।

पद्मश्री हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित नाटक चरणदास चोर के पात्र बेलाग होकर गा उठते है–

" एक चोर ने रंग जमाया जी सच बोल के "

छत्तीसगढ़ में मेला–मड़ाई के अवसर या नाचा कार्यक्रम आयोजित होता है तब नाचा के परी द्वारा–

" हामन नारी आवन वो दाई
जग के महतारी आवन वो
नाव ला जगाके सती सीता सही"

गीत प्रस्तुत कर दर्शक दीर्घा को भाव विभोर कर देते हैं। एक ही नारी की व्यथा–कथा, चिट्ठी, पत्री और संदेश की बात, तो वही अंचल का कागज काजल की मसि, कितने ऐसे गीत फूट पड़े, मन भर–भर आये, आंखे भीग गई। यह मंच का अनायास उभरता एक पहलू है। कहा जा सकता है कि ऐसे तो लोकाभिप्राय सार्वभौमिक है इसमें नारी की करूणा, मानव मूल्य, न्याय भावना और जीवन की अस्मिता रक्षित हैं। सभी अपने हितु–पिरीतु हैं।

वर्तमान में ग्रामीण लोक और शहरी लोक का फर्क दिनों दिन कम होता जा रहा है। रोजी रोटी के थपेड़ों से निष्कासित ग्रामीण कलाएं शहरों में पनाह लेने को मजबूर हुई है। कई बार तो कोई प्राचीन कला रूप गांवों में नहीं मिलता पर नगरों में मिल जाता है। सांस्कृतिक शून्य में शहरी लोक की

ये आवश्यकताएं भी है। आज नहीं तो कल मास मीडिया लोककलाओं का माध्यम होगा। जब आरती भी टेप बजाकर कर ली जाती है तो लोक संस्कृति के विराट क्षेत्र में ही मास मीडिया की उपेक्षा कैसे संभव है ?उपेक्षा न तो वांछनीय है न शुभ ही, पर प्रयोग उपयोग का रूप विचारणीय है, उससे आगे करणीय। सच्चाई तो यह है कि लोककलाएं इन आश्रय साधनों में खंडित दृष्टि की दुहरी मार का शिकार ज्यादा हुई सर्जनात्मक चिकित्सा यहां अल्पांश में ही रही। शास्त्रीय और अविभाज्य कहलाती नागरी कलाओं की तुलना में सौतेले व्यवहार ने उन्हें प्राणवायु नहीं दी।

मुश्किल यह है कि हमारी लोक कलाएं क्या देशी क्या विदेशी क्या ग्रामीण और शहरी, चारों ओर से तरह–तरह के कफन खसोंटो से घिर गई है। जिसे जो रूचता है, मतलब का लगता है, जहां जितना खप सकता है उतना हिस्सा कांट लेता है बाकी छोड़ देता है।

लोककलाओं ने अतीत में भी मंच बदला है, रूप बदले हैं मगर अतीत में रही मंच परिवर्तन की स्वतः स्फूर्त सहज और समग्र विकास प्रकिया विज्ञान और तकनीक के इस दौर में बुरी तरह लड़खड़ा गई है। जीवन में विज्ञापन प्रचार में लोककलाओं की राष्ट्रीय तो क्या कहें तात्कालिक भूमिका जोर पकड़ गई है, जो मंच की परवाह नहीं करती, रहे या जाये। यदि राष्ट्रव्यापी स्तर पर राष्ट्रीय जीवन में उपयोग ही लोककलाओं की राष्ट्रीय भूमिका है तो हमें खुश होकर तालियां बजानी चाहिए कि फिल्म से लेकर इल्म तक और दूतावासों से लेकर चौपाल तक हममें से हर एक देख रहा है कि हमारी लोककलाएं यह भूमिका बखूबी निभा रही है लेकिन मैं कहूगां कि वे केवल भूमिकाएं निभा रहीं हैं। हमारे लोकजीवन की ये सारी स्थितियां तो वे जी ही नहीं रहीं उनकी अपनी निजी जिंदगी भी धीरे–धीरे खत्म हो अंतिम सांसे गिन रही हैं। वह मंच के कारण ही।

अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय प्रतिमान पर छत्तीसगढ़ की लोककलाओं को हुबहू कैसे रखा जा सकता है? परिवर्तन तो उन्हें बचाने के लिए करने ही होंगे रूप तो बदलेगा ही। निरे ग्रामीण से शहरी तो होना होगा। तर्क संगत है और खरा भी लोक तो स्वयं परिवर्तन का सबसे बड़ा हामी है। वह खुद ही अपनी कलाओं की कैंचुल उतारता रहता है। मगर परिष्कार के नाम पर मनमानी ले आना छत्तीसगढ़ मंच का संवर्धन नहीं ह्रास करेगा जनरूचि समर्थन और सहयोग खोयेगा।

मानव जाति की विराट भाव व्यंजना

लिपे पोते अंगना अऊ
पांव दिये ठहराय हो।
कन्हई गए हे कवर्धा
घर रोवय यशोदा माय हो।।
वृन्दावन छोड़व नहीं
यही हमारो टेक।
भूतल भार उतार के
धरिहौं रूप अनेक।।

जब हम छत्तीसगढ़ में लोकगीत, लोकनृत्य, लोकगाथा और लोककला संस्कृति की बात करते हैं तब हमारा ध्यान स्वभावतः लोकनृत्य की ओर जाता है, क्योंकि अनेक लोकगीत लोकनृत्य के साथ में गाए जाते हैं। ग्रामगीत संभवतः वह जातीय आशु कवित्व है। जो कर्म या क्रीडा के ताल में रचा गया है। गीत नृत्य का उपयोग जीवन के महत्वपूर्ण समाधान के अतिरिक्त मनोरंजन भी है। छत्तीसगढ़ में राउत नृत्यों की गीत चंचल एवं उद्दाम होती है। राउतों में यह नृत्य मंडलाकार या पंक्तिबद्व होते है। राउत नृत्य में लय व ताल पर अधिक बल दिया जाता है। साथ में वाद्य भी रहते हैं। वाद्यों में लोक वाद्यों का ही प्रयोग होता है। हमारा परिवेश, हमारी बुद्धि और उद्देश्य हमारे व्यक्तित्व एवं चरित्र के निर्माण में सहायक होते हैं, किन्तु हमारा व्यक्तित्व किन्हीं संस्कारगत परंपराओं, वंशानुक्रम की रीतियों और जातीय संभावनाओं से एकदम अलग रहकर विकसित नहीं होता, उसी प्रकार लोक नृत्यों में लोक समूह की प्रगति हो सकती है किन्तु वह देश काल, परंपरा जातीय चेतना अथवा संस्कार इन सब बातों से एकदम अलग नहीं रह सकता।

किसी भी लोक–संस्कृति के मूल में लोक या व्यक्ति समूह सत्य मूलभूत है, इसीलिए व्यक्ति के विकास के नियम जातीय विकास अथवा लोक संस्कृति की प्रगति के लिए उत्तरदायी है। और जिस तरह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास एक तरह के विरोधाभास में पलता है उसी तरह लोक संस्कृति भी पनपती है। व्यक्ति की स्वतंत्र बुद्धि, उसका उद्देश्य और चेतन प्रयास यदि एक ओर है तो दूसरी ओर परंपरागत संस्कार और

आदिम मूल प्रवृत्तियां भी उसमें है। एक ओर जहां विशिष्टता कारण है अथवा नयी दिशा को खोजने वाला है वहीं दूसरा एक सामान्य धरातल निश्चित करता है जिस पर इस तरह की विशिष्टता खिल सके। यही अंतर व्यक्ति समूल और लोक संस्कृति के संबंध में भी किया जा सकता है। हमारा छत्तीसगढ़ का लोक साहित्य लोक संस्कृति की उज्जवलतम भावनाओं को अपनी अपरिष्कृत भाषा में संजोकर रखता है। हमारा लोक साहित्य पाश्चात्य देशों की फोक नहीं है। अपितु देश की समूची संस्कृति की सीमा निर्धारित करते हुए सत्येन्द्र लिखते हैं– लोक साहित्य के अंतर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें– 1. आदिम मानव के अवशेष उपलब्ध हों। 2. परंपरागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसमें किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो। 3. किन्तु वह कृतित्व लोक मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो उसके किसी व्यक्तित्व के साथ संबद्ध रखते हुए भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करें।

किसी भी राष्ट्र की जातीय, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक विशेषताएं वहां के लोक साहित्य में निहित रहते हैं। ये भी कहा जाता है कि शिक्षा से लोक साहित्य का बैर होता है क्योंकि जब कोई जाति पढ़ना सीख लेती है, तो सबसे पहले वह अपनी परंपरागत गाथाओं का तिरस्कार करना सिखती है। किन्तु दूसरी ओर लोक साहित्य और लोक नृत्यों का सच्चा मूल्यांकन करना है तो उसका अध्ययन वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय भी तो अनिवार्य है। और मानी हुई बात है कि इस प्रकार का अध्ययन शिक्षितजन ही कर सकेंगे। डॉ. नामवर सिंह जी जनसाहित्य और लोक साहित्य का भेद बताते हुए लिखते है कि– 1. जन साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले सामान्य जन साहित्य है। इसलिए जन साहित्य लोक साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है लोक साहित्य जहां जनता के लिए जनता द्वारा रचित साहित्य है। लोक साहित्य रचयिता के निजी व्यक्तित्व का विलयन हो जाता है। वह लोक मानस तादात्म्य रखते हुए भी व्यक्तित्वहीन रचना करता है– ऐसी रचना लोक दावे के साथ अपनी चीज कह सके। वह स्वयंभू होती है। 2. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल लोक के विस्तार और महत्व की चर्चा करते हुए कहते है– लोक हमारे

जीवन का महासमुद्र है उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक कृत्स्न ज्ञान और संपूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचनी मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव–यही हमारे नए जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। ''इस प्रकार लोक में सब कुछ समाहित है, और वह 'ग्राम' और 'जन' दोनों ही शब्दों की अपेक्षा अधिक सारगर्भित और सार्थक है।'' 'लोके वेदे च' से लेकर 'लोक कि वेद बड़ेरो' तक शुद्ध फोक की भावना मिलती है।'' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन अत्यन्त युक्तिसंगत है कि ''लोक'' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है।

मानव जाति की विराट भाव व्यंजना इन गीतों की हर कड़ी में सजीव है। अनेक क्षुद्रताओं के बीच, अनेक अभावों में पले लोक जीवन का यह रचनात्मक सौन्दर्य मानों कीचड़ में उत्पन्न कमल का सौन्दर्य है जो सहस्रों वर्षों से इन गीतों में रंग भरता चला आया है। डॉ. शंकरलाल यादव के शब्दों में लोक साहित्य ''अपने असंस्कृत रूप आकर्षक, अपनी कच्ची अवस्था में ही मधुर और अपनी हीन स्थिति में है। उच्च तथा महान है।''

वृन्दावन के कृष्ण कन्हईया
फिर फिर देही आशिष।
धन–जन से घर भरय
जुग जियो लाख बरिश।।

यदुवंशीयों का यह दोहा सहजात है। इसीलिए इनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता को स्थान नहीं। जीवन के अनुभवों से ये प्रसूत हैं। अतः इनमें अनुभव की सच्चाई और सादगी देखी जा सकती है। और जिस हृदय में ये गीत जन्म लेते हैं उस हृदय को कीर्ति या यश की चाह नहीं होती। गीत–रचना में उसका कोई उद्देश्य नहीं रहता, इष्ट कोई विशिष्ट नहीं., वह तो स्वांतः सुखाय गाता इसीलिए वह उस गीत में कहीं अपना नाम नहीं लाता। वह अज्ञात रहता है और रहना चाहता है। ''जिस तरह वेद अपौरूषेय माने जाते हैं, उसी ग्राम गीत भी अपौरूषेय हैं। ''पर जो कुछ वह गाता है, वह उसकी अनुभूति ही मानव मन की अनुभूति है, जो समान परिस्थितियों में समान रूप से उठा करते हैं और मानवीय संवेदना झंकृत

करती है, हरेक को बड़ी तीव्रता देती है, गहराई। इसीलिये वह शाश्वत है। देश, काल और व्यक्ति की सीमाओं पर वह परे है। यही कारण है कि वह एक की रचना होकर भी सबकी होती है, और काल विशेष में रचित होकर भी सर्वकालिक होती है। वह व्यक्ति– गीत न होकर लोक–गीत है– जनता की शाश्वत सम्पत्ति। किन्तु, हम उस 'एक' को भुला नहीं सकते क्योंकि ''वह व्यक्ति चिरन्तन व्यक्ति हो। उसने अपने व्यक्तित्व को समष्टि से विलीन कर दिया है। लोक–गाथा एक सामाजिक संस्था है जिसकी अंतरात्मा में व्यक्ति बैठा हुआ है। उस व्यक्ति की अव्हेलना हम कदापि नहीं कर सकते।'' बदलते हुए युग और बदलती हुई परिस्थितियां उन परम्पराओं में, जो उन गीतों में है, संशोधन या परिवर्तन कर सकती है और उसकी आत्मा का सौन्दर्य कभी मलिन नहीं पड़ता। वह अक्षुण्ण है, चिर प्रकाशमान है।

भारतीय लोक–गीतों का मूल ऋग्वेद में देखा जा सकता है। वैदिक साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख स्थान–स्थान पर पाया जाता है। उन्हें ही लोक गीत की पूर्वपीठिका मानना चाहिये। प्राचीन लोक गीत इन गीतों के निर्माण व विकास में सहायक होते हैं। भारतीय लोक गीतों के क्रमिक विकास में देखा जा सकता है कि उनके तत्व मूलतः भिन्न–भिन्न जातियों के है। नाग पूजा की प्रधानता, सिंदूर धारण करना संभवतः जातियों के अवशेष है। शिव के विभिन्न रूप आर्य द्रविड़ जातियों के संघर्ष विद्यमान हैं।

इन लोक–गीतों में वर्ण्य विषय के संदर्भ में स्वाभाविक रूप से आदिम विश्वास, टोने–टोटके इत्यादि का उल्लेख मिलता है तो कहीं जातीय विशेषतायें और मानव मन की विभिन्न प्रवृत्तियां परिलक्षित होती है उनके रीति–रिवाज, रहन सहन का चित्रण होता है तो कहीं संस्कृति और संस्कार सामने आते हैं। कभी अतिश्योक्ति होती है, कल्पना से खूब समृद्वि वैभव का वर्णन होता है जैसे मोती की चौक, केसर से आंगन लीपना इत्यादि रामायण में एक स्थल पर वर्णन है–

''हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल।
रचना देखि विचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल।।

यह लोकमानस का ही परिचायक है और लोक–गीत की शैली परंपरा में है। लोक–गीत की तरह माता कौशिल्या या यशोदा होती है, हर

बहू जानकी सीता और हर बालक या कुमार राम–लक्ष्मण। लोक गीतों की एक–एक के सौन्दर्य पर, उसके श्रृंगार और सतीत्व पर रीतिकाल की मुग्धायें और नातन शिक्षितायें न्यौछावर की जा सकती है।

भावों की लयात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही इन गीतों में कई बार निरर्थक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। पुनरावृत्तियों से गीत सहज ही याद है।

प्रश्नोत्तर प्रणाली से उनका अर्थ स्पष्ट होता चलता है, और उसमें जिज्ञासा व रूचि जागृत होती है। 'टेक' से उसका संगीतात्मक सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है। गीत की एक पंक्ति काल लेकर अपने मन से अनेक वस्तुएं कालान्तर में नारियां जोड़ती जाती है और गीता बढ़ता जाता है। इन गीतों में मनोरंजन तत्व भी होता है। ये प्रचार हेतु रचे नहीं जाते अंतः इनमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति छू भी नहीं पाई। यह बात दूसरी है कि उनका प्रचार स्वयमेव हो जाता है। इन गानों में सामूहिक प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है।

इन लोक गीतों में परिष्कृत मेघा की ऊहापोह में यदि खोजने चलें तो सम्भवतः हमें निराशा होगी किन्तु हृदय की कोमल से कोमल और सूक्ष्मतम भावनाओं को प्रश्रय यहां अवश्य मिला है। यही कारण है कि किसानों ने अपनी थकान इसमें मिटायी है, प्रेमियों ने अपने बिरवे को यहां सींचा है। नारियों ने वियोग के दिन इनके सहारे काट लिये हैं और जांता चलाते–चलाते, आटा पीसते हुए गृह क्लेशों को भी पीस डाला है।

बच्चों ने जीवन क़ा पहला पाठ यहीं सीखा है। उमंग और उल्लास के क्षणों में भी ये गीत नर–नारियों के, सखी सहेलियों के प्रणय, साहचर्य, ममता दुलार के साक्षी रहे हैं। इन गीतों का कवित्व नारी के ललित कण्ठ का संयोग पाकर सौन्दर्य माधुर्य और उन्माद से भर उठता है।

जन–जीवन का अभिन्न अंग लोकगीत

जिस प्रकार बादलों के मंडराते ही मोर मुक्त कंठ से पुकारने लगता है आम पर बौर आते ही कोयल कुहुकने लगती है, उसी तरह जीवन के सुख–दुख के उद्‌गारी को प्रकट करने के लिये जो संगीत अपने आप मुखरित हो उठता है, उसी को हम लोकसंगीत कहते हैं। इसमें न स्तर का बंधन है, न ताल का नियम यह तो अपने मन की भावनाओं का स्वरचित रूप है, जिसमें प्रधानता शब्दों की है, जो मन की भावनाओं को मुखरित करते हैं।

जन–जीवन में जहां आनंद और उल्लास है, वहां विरह और वेदना भी है। मिलन के सुखद क्षण हैं तो प्रतीक्षा की लम्बी घड़ियां भी। तन्मयता से अपनी मस्ती में चाहे यह दर्द हो या आनंद–अभिव्यक्ति जब होती है तो वही स्वर धरती के संगीत के नाम से जन जीवन के प्रतीक बन जाते हैं। नादबिन्दु उपनिषद् का एक श्लोक है –

"मकरंद पिय भृंग गंधान् नापेक्षते यथा,
नादासक्तं सदा चित्तं, विषयान नहि कांक्षति"

अर्थात्– नाद हमेशा चित्त को ही आकर्षित करता है उसे विषय की आकांक्षा नहीं, जैसे कि भ्रमर मकरंद ही लेता है गंध की उसे अपेक्षा नहीं रहती।

निरंतर अबाध गति से बदला हुआ निर्झर कल कल संगीत में अपने आपको विस्तृत करता हुआ चलता है विहंगम अपने कलरव रूपी संगीत में प्रातः और सायंकाल अपनी हर्ष ध्वनि करते हुए दैनिक कार्यक्रम में लीन रहते हैं। जड़ चेतन ही जब नाद ब्रम्ह के रस में डूबे हुए हैं फिर मानव का तो कहना ही क्या। संगीत तो अनवरत निर्झर है, कि मानस हृदय से मुखरित होता रहता है। सुख–दुख हो या प्रकृति में परिवर्तन सभी में यह नाद–ब्रम्ह समाया हुआ है। ऋषियों ने छंद और गायन में बांधकर इसे सामवेद का नाम दिया, किन्तु लोक–गीत तो बहती गंगा है। जन भावना ही नाद का आश्रय लेकर लोकगीत के रूप में परंपरा से प्रवाहित होती आ रही है। अतः लोकगीत ही सर्वव्यापी है और सही मायने में धरती का संगीत है।

लोकगीत कहीं के भी हों, भाषा की भिन्नता देश और स्थान की हो सकती है, किन्तु मन के भाव तो वहीं रहते हैं, जो मानव मात्र में समान है। यहां का लोकगीत छत्तीसगढ़ माटी की महिमा को भी भावना के आकाश तक उठाकर इंद्र धनुष बना देता है। अधरों से निकला हुआ युक्त संगीत भुला देता है वहां जन मानव का कितना संघर्षमय जीवन है।

विवाह हो या पुत्र जन्म, सावन के झूले हों या फागुन के रंग, अथवा खेतों में श्रम की कंदे गिराते हुए लोग हर परिवेश में गीत गूंजते रहते हैं और यह प्रतिध्वनि करते हैं कि यहां रहने वालों का इतनी विकट और विषम परिस्थितियों में भी कितना महान मनोबल है। तभी यह बात कही जाती है कि अभाव में ही साहित्य, संगीत और कला अधिक पनपते हैं।

तब यह उत्सुकता जागृत हो जाती है कि इन लोकगीतों की कलापूर्ण अभिव्यंजनाओं का सर्जक कौन है और वह स्वयं को किस प्रकार इतनी सदियों से छिपाए हुए चला आ रहा है। वस्तुतः अदृश्य रहते हुए भी कलाकार के अनुभूतिमय और संवेदनशील मन की झलक उसकी कला में मिल जाती है। लोकगीत लोक जीवन की ही देन है। लोकगीतों की परंपरा लोकजीवन की एक अचेतन क्रिया के रूप में चली आ रही है।

लोकगीत की कथावस्तु पर देश, काल, पात्र का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। सामाजिक घटनाओं का चित्रण लोकगीतों के शब्दों का आधार है, उदाहरणार्थ– स्वतंत्रता संग्राम का संदर्भ में बने गीत 'शहर गांधी जी आया, घर–घर चरखा चलाया और मैं नहीं पहनूं धोती रेशम की मेरा खादी रंगवा दे केसरिया इत्यादि।

लोकगीत प्रायः दो रसों में अधिक विकसित हुए हैं। पहला श्रृंगार–रस, जिसके अंतर्गत भक्ति, वात्सल्य, विरह और मिलन है। दूसरा वीर रस, जिसकी कथावस्तु ऐतिहासिक वीर पुरूषों का चरित्र है, जैसे– कृष्णवंश अहीर, आल्हा आदि।

परिवार में गाए जाने वाले गीतों को कोई सिखाता नहीं और न उनमें गुरू–शिष्य का संबंध है। सुप्रसिद्ध लेखिका– शिवानी जी का कहना है कि लोक–स्मृति से चले आने वाले गीतों के स्वरूप को उसी रूप में रख सकना संभव नहीं होता। ये तो एक कंठ से दूसरे कंठ तक, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्वयं हमारी लोक संस्कृति के प्रहरी बन निरंतर हमारे जीवन में रसवृष्टि करते रहते हैं। यह तथ्य विशेषकर पारिवारिक गीतों के लिये महत्वपूर्ण सत्य है।

लोकगीतों में सुआ, करमा, ददरिया मानव के मन की भावना को व्यक्त करते हैं। वृक्ष, लता और फूल भी तो समय–समय के गीतों के बहुत सुंदर माध्यम है। प्रकृति की तरह लोकगीत इसीलिये स्वाभाविक और सहज है।

लोकगीत सामूहिक जन–मानस की सामूहिक अभिव्यंजना है, जिसका सृष्टा एक व्यक्ति नहीं है। लोकगीतों की भावाभिव्यंजना में एक ऐसी

त्रिवेणी धारा बहती रहती है, जो संपूर्ण गीत को एक सुंदरतम रचना का प्रभाव और गुण प्रदान करती है।

लोकगीतों में परिवार की महिलाओं के स्निग्ध और निच्छल भावावेग की संपदा निहित रहती है। इन लोकगीतों की गायिकाएं भी महिलाएं ही होती है, जो त्यौहारों, पर्वों, विवाह, पुत्र जन्म आदि के समय वातावरण के क्षणों में परंपरा से चले आए गीत गाया करती है।

गीतों में हमें नानारूपात्मक घटनाएं मिलने और उन्हीं से संबंधित गीतों के विषय भी रहेंगे और शब्द भी। उदाहरणार्थ– छत्तीसगढ़ में दीपावली का त्यौहार बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। दीपावली की रात लड़कियां और सौभाग्यवती स्त्रियों के जुबान में सुआ गीत गूंजने लगी है।

पइंया परत हो मंय चंदा सुरूज के
मोला तिरिया जनम झनि देय रे सुआ ना
तिरिया जनम मोर अति कलपना सुआ ना
मोला तिरिया जनम झनि दे।।

इन सुआ गीतों में प्रायः नारी–जीवन के सुख–दुख, हर्ष–विषाद, विवशता का चित्र खींचा जाता है। ये स्वभाव से करूण रस प्रधान होते हैं। किसी–किसी गीत में श्रृंगार और हास्य की छटा भी देखने को मिल जाती है। छत्तीसगढ़ के हर गांव, मुहल्ले व परिवार में गौरी–गौरा की पूजा भक्ति ठाट–बाट और शान शौकत से होती है। आजकल तो केवल छत्तीसगढ़ ही नहीं, जहां भी छत्तीसगढ़िया जाकर बसे हैं, यहां यह उत्सव धूमधाम से मनाया जाता है।

यहां एक और सुआ गीत की छटा उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है– जिसमें पति–पत्नि का वार्तालाप है। नवविवाहिता वधू पहली बार पति के घर आयी है। संयोग या दुर्योग से पति को रणक्षेत्र में जाना पड़ रहा है। वह कहता है– तुमको मैं पहली बार गौना कराके यहां अपने मकान में लाया लेकिन क्या बताऊं तुमको छोड़कर मुझे युद्ध में जाना पड़ रहा है–

'पहिली गवन कर डेहरी बैठारे रे सुआना
तोला छेड़ि के चलेंव बनजार।।
पत्नी कहती है–
तुम धन जइयौ मोरे निजवा रे सुआना
फेर हमुला कछु कहिं जाव।।

हे मेरे धन। हे मेरे अपने। तुम यदि जा ही रहे हो तो कम से कम हमसे भी तो कुछ कह जाओ– 'किसी प्रकार का निर्देशन।'

सासे संग खइहौ ननद संग सोइहौं, रे सुआ ना फेरे लहुरा देवर मन मान।।

सासे डोकरिया मोर मर हर जाहै, रे सुआ ना ननद पठोहौं ससुरार।

लहुरा देवर मोर बेटवा बरोबर रे सुआ ना

फेर का देखि रहों मन बांध।

अंगना लगइहौं तुम तुलसी के बिरवा, रे सुआ ना

जेहि देखि रहौ मन बांध

नित दिन हुइहौ तुम नित दिन पोतिहौ, रे सुआ ना

फेर नित दिन दियना जराव।।

तुलसा के बिरवा जब झुरमुर होइहौं, रे सुआ ना

मोर कथा गये रन जूझ।।

पति निर्देशन देता है– तुम सास के साथ भोजना करना, अपनी ननद के साथ सोना और अपने छोटे देवर के साथ हंस बोल लेना। तुम्हारा मनोरंजन हो जायेगा।

पत्नी को बात जंची नहीं। वह तर्क करती है– मेरी सास तो वृद्धा है, वह कभी भी मर जायेगी और ननद को मैं ससुराल भेज दूंगी। छोटा देवर तो मेरे पुत्र के समान है उससे मनोरंजन कैसे होगा। फिर भला तुम ही कहो मैं किसे देखकर अपना मन स्थिर कर तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी ?

पति– अच्छा तो तुम आंगन में तुलसी का एक पौधा लगाना और उसे ही देखकर अपने मन को स्थिर रखना। तुम नित्य प्रति उसका दरस–परस करना, उसकी सफाई करना, जल चढ़ाना और फिर उस पर दीपक जलाना। जिस दिन वह सूख जायेगा। तुम समझ लेना तुम्हारा पति– मैं युद्ध में मारा गया।''

प्रस्तुत गीत में कितना मनोवैज्ञानिक सत्य उभरा है। बात यही है। पहली बार ससुराल आयी हुई पत्नी–पति के बिना किसके सहारे ये लंबे दिन काटे। पति के लिये उसकी मां, बहन, भाई अपने हैं, अतः वह उपाय बता देता है। और बड़े ढंग से बताता है। परंतु पत्नी का तर्क भी अकाट्य है। तब वह जो हल खोज लेता है वह भी मनोवैज्ञानिक उपचार है।

'धर्म' में मन लगा लेने से उसके भटकने और कष्ट पाने का खतरा नहीं रहता। फिर, इस गीत में 'लोक–मानस' का आग्रह भी उभरा है– उसी धार्मिक निष्ठा और आस्था का, इसीलिये, तुलसी के बिरवे' की बात कही

गयी। इनके सिवा गीत में कथा अभिप्राय भी निहित है– तुलसी के वृक्ष सूखने का आशय –पति की मृत्यु निकलना। पूरे गीत में शिष्ट श्रृंगार है, सहज स्वाभाविकता एवं प्रवाह है और श्रोता के मन में संवेदना का अद्‌भूत कराने की क्षमता।

इसी तरह सावन के घुमड़ते बादल हो या फागुन का मस्त महीना, लोकगीत नदी की धारा की तरह बहने लगते हैं।

छत्तीसगढ़ का गांव कृषि प्रधान होने के कारण यहां गाय बैल का भी ग्रामीण जीवन में एक विशिष्ट स्थान है। हर वर्ष राउत गाय–बैल के गले में 'सुहई' बांधते हैं। सुहई बांधते समय राउत कोई कल्याण–मंगल का दोहा पढ़ते हैं –

'धन गोदानी भुंइया पावौ, पावौ हमार आसीस
नाती पूत ले घर भर जावे जीवो लाख बरीस।।
या फिर गाय को संबोधित करते हुए कहते हैं
'चार महीना चरायेन, खायेन मही के मोरे
आइस कातिक महीना लक्ष्मी छूटेन तोर बिहौरे''

इसके पश्चात राउतों का समूह घर–घर जाकर नृत्य करता है ये राउत स्वयं के कौड़ियों और मोर पंख से बहुत सजाते हैं। हाथ में लंबी–लंबी लाठियां रखते हैं– पैरों में घुंघरू। सारे शरीर और मुख में हल्दी का पीला रंग लगाते हैं। कोई एक व्यक्ति एक दोहा पढ़ देगा और फिर सब नृत्य में झूम उठते हैं। थोड़ी देर में नृत्य रूकता है और फिर कोई राउत एक दोहा पढ़ता है और पुनः नृत्य शुरू हो जाता है। नर्तक दल के साथ एक बाजा टोली होती है जिसमें गड़वा बाजा, ढोल, मांदर, निशान, मोहरी, टिमकी, डफली, मंजीरा, झांझ, झुनझुना आदि लोकवाद्यों को बजाने वाले होते हैं। गीत और नृत्य के साथ ये विविध वाद्य बजाते रहते हैं। राउत नर्तक परम्परागत ढंग से गाजा–बाजा के गोल में ठहाका लगाकर एवं मगन होकर नाचते रहते हैं। बांस तथा रंगीन कागजों में मयूर, हंस,घोड़ा आदि की आकृतियां बड़े ही कलात्मक ढंग से बनाकर नृत्य के समय प्रयुक्त की जाती है। एक दो लोग मशाल जलाकर भी रखते हैं। छत्तीसगढ़ संस्कृति का यह अनूठा नृत्य जहां ग्रामीण अंचलों में काफी लोकप्रिय है, वहां दूसरी ओर शहरी क्षेत्र का प्रमुख आकर्षण भी है। जब राउत नृत्य करते हुए गांव के अन्य घरों में भेंट के लिए जाते हैं, उस समय कुछ भिन्न–भिन्न प्रकार के दोहा कहते हैं। ऐसे दोहों में पारिवारिक भावना सुभाषित अथवा पहेलियां हुआ करती है–

चनालूरे चना खेत में भइंसी लूरे दइहान रे,

गोरी लुरी भइया बपन घर समय लूरे ससुरार रे।।
कारी टुरी कर मूंगरी, करिया चीज नहीं भाय।
करिया धनीला भाय नहीं, कोदों सांवर बर जाय।।
देवारी–देवारी रटेंव भइया, देवारी जीव के काल रे।
सबके छुटगे बनी भूति, मोरो छुटिस रोजगार रे।।

जिस तरह चने की शोभा चने की खेत में होती है तथा भैंस की शोभा गोठान में होती है, उसी तरह लड़कियां भी बचपन में मां–बाप के घर तथा युवावस्था में ससुराल में शोभा पाती है कृष्णवर्ण की लड़की ने जिसने काले मूंग की माला पहन रखी है, काले रंग की किसी भी वस्तु को पसंद नहीं करती। काले रंग का पति भी उसे पसंद नहीं है। वह कोदो के समान सांवले वर्ण वाले पुरूष के साथ जाती है। मैंने दीवाली को रट लगायी थी किन्तु यह दीवाली ही मेरे प्राण की दुश्मन बन गयी। सबकी मजदूरी छूट गई और सबके साथ मेरा भी व्यापार समाप्त हो गया।

दीपावली पर्व पर राउत अपने पशुधन मालिक के घर जाकर उन्हें औपचारिक भेंट आदि देते हैं और बदले में उनसे कुछ उपहार आदि अपने दोहों के माध्यम से उनका यशोगान और दीर्घ जीवन की कामना करते हैं –

जइसे भैया लिहेन–दिहेन तइसे के देबो असीस।
अन–धन तुंहर घर भरे, जुग जिवो लाख बरिस।।1।।
ठाकुर जोहारे आएन भइया खाएन पान सुपारी।
रंग महल म बइठव मालिक राम–राम लेव मोरी।।2।।

इन राउत दोहों में जहां एक ओर जन–जीवन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति होती है, वहां दूसरी ओर संसार की निस्सारता का उल्लेख मिलता है–

चार दिन के जिनगी भइया, चार दिन के खेल।
चार दिन के देवारी, फेर कउन मरही कउन जीही।

सच तो यह है कि दोहों की अद्भुत उठान, हाव भाव का व्यक्तिकरण तथा सत्य की अद्भुत उमंग राउत जाति के जीवन की जीवंतता तक को मुखरित कर देती है। 'राउत नाच' शौर्य शक्ति का स्फुरण नृत्य है। इनकी लाठियों के शिरोभाग के साथ समूह को देखकर पुरातनकालीन सैन्य आक्रमण का दृश्य आंखों में साकार हो उठता है।

विवाह के बहुप्रचलित लोकगीतों को ही लीजिये। इस गीत में लड़की अपने पिता से मांगती है– मैं तो मांगू कौशिल्या सास, ससुर जी राजा दशरथ सा, मैं तो वर मांगू श्री राम, देवर छोटा लक्ष्मण सा। फिर उसका मन

अपने भावी ऐश्वर्य की कल्पना करते हुए गुनगुना उठता है। मैं तो मांगू अयोध्या को राज, महल में बैठी हुंकूम करूं।

गीत की प्रत्येक पंक्ति में पद अर्थ का गौरव अभिवर्धित होता है और सौंदर्य झलकता है। कि कितने ही व्रत उपवास किये, गौरी–गौरा पूजा की देवी–देवता मनाए जब कहीं जाकर केसरिया वर मिला। लड़की विवाहित हो, ससुराल विदा होते समय आंखों में करूणा के आंसू अधिक दिखाई देते हैं। मां के कोख से जन्मी बेटी परायी हो जाती है। वह जैसे भी रहती है, बोलती थी, काम करती थी, यह सब स्मृतियां बन परिजनों के मन को हिलोरती है। जब स्मृतियों का दौरा आता है, सामने दृश्य बन घूमती है। कभी आंखों से अविरल आंसू की धारा बहती है तो कभी मार्मिक टीस ममहित होना पड़ता है। वेदना, विछोह और करूणा के सभी मनोभाव अपने अलग ही रूपों में संपादित हुए हैं–

घर के दुवारी ले दाई मोर रोवत हे,
आज नोनी होये बिराने ओ,
घर के डेरौठी ले दाई मोर रोवत हे,
रांध के देवइया बेटी जावत हे वो,
अपन कुरिया ले भईया मोर रोवत हे,
मन के बोधइया बहिनी जाथे
भीतरी दुवारी ले भउजी मोर रोवत हे
लिगरी लगइया नोनी जाथे।

और कई स्थल है जहां मां, बाप, बेटी, भाई, सास–ससुर, देवर, ननद की मनोभावनाओं का बड़े ही अच्छे ढंग से चित्रण हुआ है। दूसरे नृत्य कारण संबंधी की मनोवैज्ञानिक झलक दिखाई देती है। ददरिया, लोकगीत प्रेम गाथा है। सजीवता, रसात्मकता तथा मनोवैज्ञानिक मन तत्वों का अद्‌भुत सामंजस्य है। और वियोग दोनों की स्थितियों का यथेष्ठ वर्णन हुआ है। इसमें वस्तुत्व और रूप की बहुलता है। प्रेम से जहां सुख की अनुभूति और हृदय को सांत्वना मिली है, वहां से कठोर यातनाएं भी भोगनी पड़ी है, लेकिन निराकरण की स्थिति में पलायन कर जीवन समाप्त कर लेने की भावना नहीं आई है। गर्मी के दिनों में भोर बेला में लड़कियां स्त्रियां महुआ बीनते हुए, आषाढ़ में धान बोते हुए, पुरूष सावन भादों में खेतों में निंदाई करते हुए धान काटते हुए, बोझे बनाते हुए घर पर धान कूटते हुए, और पीसते हुए कभी भी ये गीत गाये जा सकते हैं। प्रायः काल प्रकृति के हरित परिधा ओर से नीली साड़ी के घूंघट पट को धीरे–धीरे खोलते हुए ऊषा के आसक्त मुखमंडल की पहली झलक की शोभा के साथ ही कोई नारी स्वर हृदय को छू लिया करता है–

करे मुखारी जामुन डारा के,
तय आबे संझा बेरा हमर पारा।।

एक और ददरिया प्रस्तुत है– इसमें प्रिय परदेश जा रहा है अतः रूलाई छूट रही है। जिस प्रकार कुआं का पानी बाहर निकाल लिया जाता है तब उसे कुआंसी लगती है, अर्थात उसकी इच्छा अपने घर में ही रहने की होती है अन्यथा उसे बेचैनी होती है। ठीक उसी प्रकार तुम्हारे जाने से मुझे रूलायी छुटती है। दृष्टियों से

कुंआ के पानी कुंआसी लागे
परदेसी चले जाबे रोआसी लागे।।

ददरिया में गागर में सागर समाया हुआ है। भावों की विविधता भाषा की भावना से सामंजस्य तथा मनोविकारों का उद्‌घाटन ददरिया में परिलक्षित हुआ है। लोक चेतना और लोकभावना का विस्तार के कारण प्रेमी–प्रेमिका को भूख नहीं लगती, प्यास नहीं लगती रात में नींद नहीं आती, प्रेम की सभी स्थितियों हाव–भाव विरह, मिलन, स्मृति, उद्‌वेग, रूठना, मनाना, रूदन, व्यंग्यौक्ति, उलाहना, कस्में वादे आदि प्रकृति के संवेदनात्मक रूपों में मिलता है। भावों में गंभीरता और भावना मूलकता का अपूर्ण संयोजन दिखाई देता है।

लोकगीत की प्रशंसा में महादेवी वर्मा ने भी कहा है–

सुख–दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष को गिने–चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इस गीत में समूहगत चेतना जुड़ जाती है तो वह लोकगीत बन जाती है। लोकगीतों का 'मोड़' अपने आप में कुछ अद्‌भुत एवं अनजाना सा होता है। गीत कहीं से कोई मोड़ लेकर अपनी व्यंजना के साथ आ मिलता है। लोकगीतों में न समय का व्यवधान है, न साम्य का, न वस्तुस्थिति का व्यवधान है और न ही साधारण नियमों का सभी ज्ञान जन्य तर्कों का सत्य अपने ही तर्क में भावों का कुछ ऐसा रासायनिक एवं संगात्मक सम्मिश्रण होता है कि उसका स्वरूप अपने आप में ही एक अलग सौंदर्य की भावना को जागृत करता है। लगभग सभी गीतों में किसी न किसी रूप में भावानुभूतियों का इंद्रधनुषी सौंदर्य मन को आप्लावित कर देता है।

कृषक हो या अधिपति, निर्धन हो या धनवान इन सबको इस धरती पर समान भाव से गीतों की गूंज हर कोने में प्रतिध्वनित होती हुई सुनाई देती है। इसीलिये तो लोकगीत जन–जीवन का एक अभिन्न अंग है।

शौर्य कला का सृजनात्मक उत्स

एक कला को दूसरी कला से भिन्न किस प्रकार किया जा सकता है?वे कौन से तत्व हैं जो संगीत को काव्य से, काव्य को चित्र से?अथवा चित्र को मूर्ति से भिन्न बनाते हैं?यदि इन कलाओं के व्यक्त स्वरूप तक की हमारी दृष्टि पहुंचती है तब तो भेद एकदम साफ है। एक कला देखने से संबंधित है, दूसरी पढ़ने से तो तीसरी सुनने से संबंधित है। ग्रहण करने की विभिन्न इंद्रियाँ और उनसे संबंधित वस्तु–तथ्य की दृष्टि से कलाओं की भिन्नता का आधार, सभी के सामने स्पष्ट है। कलाओं का यह विभाजन सही तौर पर कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न दिखे, किन्तु जब हम राउत नृत्य की शौर्य कलाओं के सृजनात्मक उत्स तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं तब उनके शौर्य कलाओं की आन्तरिक एकता और समानता के अनेक तथ्य उभर कर हमारे सामने आते हैं।

साधारणतया राउत शौर्य कलाओं के माध्यम से यही अर्थ लिया जाता है कि 'रचना' के लिए कौन से उपकरणों की सहायता ली जाती है। काव्य में–भाषा, चित्र में–रंग और रेखा, संगीत में–नाद, यही तो वे साधन है जो कलाओं को परस्पर भिन्न बनाते है। लेकिन जब हम माध्यम की समस्या में गहरे उतरने का प्रयत्न करते हैं तो पता चलता है कि वाक्य और शब्द, रंग और रेखा, नाद और ध्वनि तो केवल कला के साधन हैं, जिनका उपयोग मनुष्य अपनी बात करने के लिए करता है। लेकिन बात कहने की प्रक्रिया अथवा सृजनात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा का आधार किस जगह है? मनुष्य में उस शक्ति का केन्द्र बिन्दु कहां है– जहां से कलाओं की विभिन्न शाखाओं का जन्म होता है?सब कलाओं का स्रोत सामाजिक मनुष्य के कल्पनाशील मस्तिष्क में है अथवा उसकी सौंदर्यानुभूति में है। अतः कलाओं के माध्यम का निर्णय भी उसी मनुष्य के कल्पनाशील मस्तिष्क अथवा उसकी सौदर्यानुभूति में निहित है।

लेकिन मनुष्य का मस्तिष्क और सौंदर्यानुभूति स्वयं एक ओर तो अपनी सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है और साथ ही दूसरी ओर परिस्थितियों का कारण भी है। इसलिए सभी प्रकार के कलात्मक माध्यमों में समाज के पारस्परिक संघर्षों का प्रतिफलन होता है। परन्तु समाज के पारस्परिक संबंध निरंतर विकसित होते रहते हैं। बदलते रहते हैं। परिणाम स्वरूप कला के माध्यमों में भी विकास एवं परिवर्तन होता है। किन्तु जिस प्रकार समाज के परिवर्तित सम्बधों का अर्थ यह नहीं होता कि इन नये संबंधों का अतीत से कोई सरोकार नहीं है। ठीक इसी प्रकार कलाओं के

विभिन्न माध्यमों का भी एक सामाजिक क्रम चलता है। अतीत की सामाजिक स्थिति में ही नवीन का जन्म छिपा हुआ रहता है। प्रत्येक कला अपने माध्यम विशेष से शक्ति, परम्परा और मान्यताएं ग्रहण करती है। कोई भी कला हो अथवा कला का कोई भी माध्यम हो, उसकी अपनी ऐतिहासिक आवश्यकता है, उसका अपना सामाजिक औचित्य है और उसका अपना इतिहास है, अर्थात माध्यम के क्रमिक विकास की अपनी कहानी है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि कलात्मक माध्यम समाज की विभिन्न स्थितियों के परिचायक हैं और दोनों एक दूसरे पर सक्रिय प्रभाव डालते हैं।

कला के माध्यम और कला के उपकरणों में यही भेद उपस्थित होता है। कला के माध्यम से समाज की स्थिति का विश्लेषण होता है। किन्तु कला के उपकरणों द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति को सांगोपांग और सौंदर्यानुभूति को ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अतः कला के मात्र उपकरणों को माध्यम की संख्या नहीं दी जा सकती।

यह सही है कि कला के उपकरणों का कला के सृजन पर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। चित्रकला के उपकरण (अर्थात–रंग, ब्रुश, केनवास) चित्रों के विषय एवं कलाकृति के सौंदर्य को उत्पन्न करने में बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा अदा करते हैं। और जब कभी उपकरणों में तरक्की होती है अथवा कोई नया उपकरण काम में आने लगता है तो राउतों के शौर्य कला के विषय एवं रूप में भी परिवर्तन हो जाता है। उपकरण के इस महत्व को आजकल मूर्तिकला में आसानी से अनुभव किया जा सकता है। मूर्तिकला में सीमेंट–कांक्रीट के उपयोग ने कला की मान्यताओं को ही बदल दिया है। कांक्रीट की मूर्ति बनाने के लिए जिन लोहे की सींकचों का आधार लिया जाता था आजकल केवल सींकचों की आकृति से भी कलाकृति का निर्माण किया जाने लगा है। इन लोहे की रेखाकृतियों में व्यंजित वस्तु का केवल सूक्ष्म तात्विक ढांचा मात्र होता है, किन्तु व्यंजना पूरें तथ्य की हो जाती है। परन्तु माध्यम का निर्माण केवल सामाजिक तथ्यों पर निर्भर रहता है। और सामाजिक तथ्य असंख्य है। आज विश्व भर के विश्व–विद्यालयों में जितने विषय पढ़ाये जाते है वे सभी किसी न किसी सामाजिक तथ्य से संबंधित है। इसलिए आज के युग में कला के माध्यम से संबंधित सामाजिक तथ्य शब्द का उल्लेख होता है तो उसे एक प्रासंगिक सीमा में ही ग्रहण करना चाहिए। यहां केवल उन्हीं सामाजिक तथ्यों से हमारा संबंध है जो कला और कला के सृजन के क्षेत्र में आते हैं। इस दृष्टि से कला के माध्यम की समस्या को हम आसानी से तीन भागों में बाँट सकते हैं।

सबसे पहली बात है–मनुष्य के कला–सृजन की कामना ही क्यों उत्पन्न हुई?इस प्रश्न का उत्तर आज नेतृत्व, पुरातत्व, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र देते हैं। मनुष्य ने अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए प्रकृति से जो संघर्ष किया, उस सक्रिय संघर्ष के दौरान में जीवन की आवश्यकताओं के बीच ही कला का जन्म हुआ। आज हमारे लिए जो कला के सृजन की समस्या है, वही समस्या आदिम समाज के व्यक्ति के लिए नहीं थी। क्योंकि तब कला नामक संज्ञा का भिन्न स्वरूप संभव नहीं था। वह तो अपने सामाजिक जीवन की सहज मान्यताओं को व्यक्त करता था। उस समय उसकी सौंदर्याभिव्यक्ति उनके जीवन की आवश्यकता थी–सौंदर्य–भावना की क्षुधा का परिणाम नहीं थी। कला का कला के रूप में जन्म सामाजिक विकास की कहानी में बहुत बाद की बात है। अतः कला के माध्यम का प्रथम स्वरूप सामाजिक अवस्था पर निर्भर करता है। समाज के विकास में एक समय ऐसा था जब समान विश्वास एवं समान वृत्ति वाले व्यक्तियों का समूह–आर्थिक, सामाजिक एवं मानसिक रूप से एक दूसरे पर निर्भर करते थे। उनके लिए कला की व्यंजना और जीवन के संघर्ष में अन्तर नहीं था। इस समाज की विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियाँ थी। उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार था। व्यक्ति का स्वाधिकार कुछ नहीं था। जो कुछ था वह समाज का था। इस सामाजिक विकास के दौर में शौर्य कला का माध्यम भी सामूहिक, सामाजिक और सामाजनिष्ठ था। वह आदिम व्यवस्था थी।

राउतों में शौर्य कला के माध्यम का दूसरा स्वरूप मनुष्य के मानसिक विकास से संबंधित है। प्रत्येक सामाजिक मनुष्य को सामाजिक वातावरण के बीच में बचपन, जवानी और बुढ़ापा निकालना पड़ता है। ये अवस्थाएँ भी कला के माध्यम के निर्णय में महत्वपूर्ण तथ्य है। विशेषकर बचपन की सहज और सुलभ कलात्मक अभिव्यक्तियों में मनुष्य के अचेतन मन की अद्‌भुत छाया मिलती है। बाल्य सुलभ मन में विश्वजनीनता है। बालक किसी भी देश या किसी भी समाज विशेष के क्यों न हों उनकी अभिव्यंजनाओं में अवस्था के अनुकूल पर्याप्त समानता मिलती है। यदि कुछ फर्क होता है तो उन तथ्यों में होता है, जो बालक के निरीक्षण या उसके अनुभव की परिधि से बाहर होते है। बाल्य–कला का अपना विशिष्ट माध्यम है और प्रत्येक बालक अपने मानस और निरीक्षण की सीमा में एक ही माध्यम से अपनी बात व्यंजित करेगा।

शौर्य कला के माध्यम का तीसरा स्वरूप राउत समाज की विकसित अवस्था से संबंधित है। यहां आर्थिक उत्पादन के साधनों में खूब तरक्की हो

चुकी है, समाज में श्रम–विभाजन जटिल और विविध बन जाता है। मनुष्य की कर्मरत इन्द्रियां सूक्ष्मतम कार्य करने में कुशलता प्राप्त कर लेती है। इस विकसित अवस्था में राजनैतिक, आर्थिक, आध्यात्मिक आदि–आदि अनेक सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव होने लगता है। व्यक्तियों के अधिकार बढ़ जाते है, सुविधाएं बढ़ जाती है और कुछ लोग अधिकारों से वंचित रह जाते हैं। सुविधा प्राप्त लोगों की संख्या कम और सुविधाहीन लोगों की संख्या बहुत अधिक होती है। समाज की इस स्थिति में कलाओं का माध्यम भी तात्विक रूप से बदल जाता है। जिस वर्ग को पढ़ने की सुविधा मिलती है– अपने मानस को विकसित बनाने का अवसर मिलता है, उस सम्पन्न वर्ग के लोगों की कला, जो सबके लिए समान थी, उसी कला के माध्यम से दो नवीन अंकुरों का प्रस्फुटन हो जाता है। एक में प्रतिभा को अभ्यास का सहारा मिलता है और दूसरी में प्रतिभा को सामाजिक औसत जीवन का सहारा मिलता है। इन दो धाराओं को हम आज शास्त्रीय कला एवं छत्तीसगढ़ी लोक कला के नाम से जानते है।

इस प्रकार व्यक्ति और समाज की अवस्था के आधार पर कला के तीन मुख्य माध्यमों का निर्माण हुआ है। तीसरे माध्यम का विभाजन फिर दो भागों में हो जाता है। साथ ही पहिले दो माध्यमों का अस्तित्व व्यक्ति और समाज की स्थिति–विशेष के बाद समाप्त हो जाता है। बाद में सौंदर्य–व्यंजना के लिए समाज के पास एक ही माध्यम के दो रूप बच जाते हैं। एक शास्त्रीय कला–जो अपने माध्यम को विशिष्ट से विशिष्टतर बनाये जाते हैं और जिसे सुविधा–संपन्न वर्ग अभ्यास और परिश्रम से व्यक्त अथवा ग्रहण करने लगता है। दूसरी छत्तीसगढ़ी लोक कला है जो समाज की औसत मान्यताओं और औसत प्रतिभा के सहारे विकसित होती है। इस माध्यम को अभिव्यक्त करने वाला कोई एक व्यक्ति नहीं होता–संपूर्ण सामाजिकता ही लोककला की आधार–भूमि है। शास्त्रीय कला का स्वरूप इतना वृहत् एवं सामाजिक नहीं होता।

विभिन्न माध्यमों की उत्पत्ति के कारणों को संक्षिप्त में जानने के बाद हमारे लिए यह अत्यंत आसान हो जाता है कि लोक कला के विशिष्ट माध्यम को अन्य माध्यमों से भिन्न स्तर पर देख सकें। बाल्य कला के कलात्मक माध्यम को हम चित्रों के सहारे भली भांति समझ सकते हैं। बालक अपने–अपने वातावरण से प्रभावित होकर, अपने मानसिक विकास के अनुसार चित्र बनाता है। चित्रित वस्तु का चुनाव वह प्रभाव एवं रूचि के अनुसार करता है। वह वस्तु का यथातथ्य नहीं बना सकता क्योंकि उसके हाथ में सधाव नहीं है। न वह वस्तु को वस्तु के लिए चित्रित करता है। वह

वस्तु में क्या देखना चाहता है या क्या देख रहा है–उसी को व्यक्त करता है। अर्थात उसका चित्रित विषय उसका अपना मन है। वस्तु तो केवल एक बहाना या कुतूहल है। रंग और रेखाएं उसका सुलभ खेल है। बालक के चित्रों का अर्थ केवल बालक की मानसिक स्थिति का और कुछ हद तक सामाजिक वातावरण का घोतक है।

इसी प्रकार आदिम कला का कलात्मक माध्यम समाज की स्थिति का घोतक है। इतना ही नहीं आदिम कला तो तात्कालीन समाज की सही–सही अनुकृति है। बालक की कला बहुत कुछ अपने ही आनन्द तक सीमित रहती है या शिक्षा का आधार मात्र बनी रहती है। किन्तु आदिम कला के साथ सामाजिक तथ्य के ताने–बाने भी जुड़े रहते है। आदिम मनुष्य के नाचने, गाने व उसके चित्रों में बालक की सहजता व सुलभता बनी रहती है। लेकिन इस सहजता में सामाजिक निरपेक्षता नहीं होती । आदिम मनुष्य की कला का प्रत्येक अंश उसके समाज की तत्कालीन आवश्यकताओं का प्रतिबिंब है।

इन दोनों (अर्थात बाल्य कला एवं आदिम कला) कलाओं के माध्यम की तुलना जब छत्तीसगढ़ की लोक कला के माध्यम से करते हैं तो अनेक नये तथ्य सामने आते हैं लोक कला न व्यक्ति की अवस्था से संबंधित है और न समाज क विकास की एक विशिष्ट स्थिति तक ही सीमित है। फिर भी लोक कला में बालक की सी तात्विक सुक्ष्मता और संक्षिप्तता है और आदिम कला–सी सामाजिक सापेक्षता व सार्थकता है। छत्तीसगढ़ी लोककला का माध्यम बालक की अवस्था और वह समाज के निश्चित सौंदर्य–विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने वाले शास्त्रीय माध्यम के समानान्तर चलता है। किन्तु छत्तीसगढ़ी लोक कला के माध्यम में आनंद लेने वाले समाज के बहुसंख्यक लोक सौंदर्य–विधान को सहज श्वांस की तरह ही स्वीकार करके चलते हैं। न कोई लोक कला के माध्यम को गंभीर चिन्ता का आधार ही बनाता है और न ही कोई उसकी सौंदर्य–सृष्टि को नियमबद्धता अथवा शास्त्रीयता की व्याख्या में पिरोने का प्रयत्न करता है। इसलिए जहां शास्त्रीय कला के माध्यमों को तौलने–मापने के संख्यातीत नियमोंपनियम बन गये हैं वहां लोककला के माध्यमों पर सोचने का कम भी प्रारंभ नहीं हुआ।

पांचों ललित कलाओं में इन सभी माध्यमों का अस्तित्व रहता है–बाल्य चित्रकला, आदिम चित्रकला, लोक चित्रकला और शास्त्रीय चित्रकला। इसी प्रकार संगीत, काव्य, मूर्ति एवं वास्तु कलाओं के ये सभी विभिन्न माध्यम किसी न किसी रूप में समाज के साथ चलते हैं। इसलिए

जब छत्तीसगढ़ी लोक कला के माध्यम के विषय में कुछ कहना है तो लोक संगीत, लोक चित्रकला, लोक साहित्य, लोक मूर्तिकला एवं लोक वास्तुकला के सभी तथ्यों को आधार बनाकर ही कुछ कहना होगा।

इस दृष्टि से लोककला के माध्यम में हम इन गुणों की अवधारणा पाते हैं। यह माध्यम सामाजिक रूप से सहज और सुबोध है। सहज और सुबोध के साथ समाज –सापेक्ष और उपयोगी है। इसमें जीवन के साधारणीकृत सत्यों अथवा अनुभवों का उल्लेख रहता है। व्यक्तिनिष्ठता और कलात्मक चमत्कार की भावना नहीं रहती। जीवन के प्रत्येक सत्य को साधारणीकृत बनाने में लोककला का माध्यम अधिकतर अमूर्त तत्व ग्रहण कर लेता है। किन्तु ये अमूर्त तत्व सामाजिक अर्थ से शून्य कभी नहीं होते। जीवन के मूल्यों को प्रतीकों से बांध लिया जाता है, जिनका निरंतर प्रयोग होता रहता है। समाज की प्रगति के साथ या तो इन प्रतीकों को बदल दिया जाता है अथवा उन्हीं प्रतीकों में नये तथ्यों का आरोपण कर दिया जाता है। लोक कला का माध्यम हर स्थिति में समाज के दैनंन्दिन जीवन के कार्य–कलापों को सौंदर्यमय बनाने की कोशिश करता है। इस माध्यम को समाज की बहुत बड़ी संख्या पर प्रभाव डालना होता है इसलिए उसमें कलात्मक रचना और विषय वस्तु एवं जनसाधारण के मानस का अतुलनीय सामंजस्य बनाये रखना पड़ता है। लोक कला के माध्यम की अपनी परम्परा होती है। यह माध्यम उसी परम्परा से शक्ति एवं प्रभाव ग्रहण करता है। साथ ही प्रचलित कला के अन्य माध्यमों को सशक्त अभिव्यक्तियों का सहारा भी लेता है।

लोक कला के माध्यम में मुख्य तत्व अनुकृति एवं अनुकरण का रहता है यह अनुकरण कलात्मक प्रतीकों एवं अभिव्यंजनाओं का होता है। समाज ने जिन मार्मिक तथ्यों को एक बार नैतिक मान्यता प्रदान कर दी है। लोक कला विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में उन्हीं तथ्यों की अनुकृति या उन्हीं तथ्यों का अनुकरण करती है। जब समाज में नवीनता का प्रवेश होता है तो वहीं अनुकृति नवीनता को भी आत्मसात् कर लेती है। इसीलिए लोककला के प्रचलित माध्यम का कभी टकसाली स्वरूप नहीं रहता । उसका स्वरूप यात्री की तरह प्रत्येक प्रदेश में घूम कर आता है। सामाजिक सापेक्षता को छोड़कर लोक कला का माध्यम जीवित नहीं रह सकता उसमें ग्रहण करने और पचाने की अद्‌भूत ताकत होती है। इसलिए अनेक बार संसार की लोक कलाओं में विभिन्न मतान्तरों का एक ही साथ प्रयोग भी मिल जाता है। लोक कला के माध्यम का यह स्वरूप असंगत नहीं माना जाता। वहां मनुष्य की कोई जाति नहीं, कोई वर्ग नहीं कोई रंग नहीं, वहां तो

सहज मानव और कुटिल मानव की स्पष्ट रेखाएं है। जो बुरा है–वह बुरा है। उसी की चित्रात्मकता कल्पना भी वैसी ही होगी और काव्यात्मक उल्लेख भी वैसी ही होगा और जो अच्छा है–वह अच्छा है, लोककला के माध्यम में उसका हर प्रकार से समादर रहेगा।

लोक कला के माध्यम–सम्बन्धी ये कुछ संकेत मात्र हैं उन संकेतों का शनैः शनैः लोक कला व उसके अध्ययन से शक्ति एवं अर्थ मिलता जायेगा। हमारे समाज का ढांचा ज्यों–ज्यों अधिक जनवादी होता जायेगा त्यों–त्यों लोक कला के माध्यम का महत्व शास्त्रीय कलाओं के स्वरूप पर अपना प्रभाव डालता जायेगा और यथाशीघ्र दोनों कलाओं के सामजस्य से एक नवीन कला माध्यम जन्म लेगा। लेकिन अन्त में लोक कला एवं विशिष्ट कला का एक नवीन क्रम फिर शुरू हो जायेगा–क्योंकि मानसिक स्तर पर भेद समाज की किसी भी स्थिति में समान बन जायेगा–इस तथ्य के काल्पनिक संतोष की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

लोकमानस का समवेत स्वर लोक साहित्य

लोक साहित्य लोक संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। इसके अभाव में लोक संस्कृति का अध्ययन अपूर्ण ही माना जाता है। लेकिन आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लोक साहित्य की चर्चा को क्या अनावश्यक बहस का विषय मानकर निरस्त किया जा सकता है ?

यह एक दिलचस्प और प्रासंगिक विषय है और मैं सोचता हूं कि नव लेखन और समसामायिक लेखन से यह प्रश्न कहीं न कहीं मूलभूत रूप से जुड़ा हुआ है।

आधुनिक लेखन निश्चय ही मनुष्य की उसकी अस्मिता, आस्था–अनास्था, जिजीविषा और टूटते मन को खण्डशः अभिव्यक्त करता है और उसके महत्व को नकारना फिजूल बात होगी।

किन्तु वैज्ञानिक उपलब्धियों के इस युग में पर्याप्त सुविधाओं के उपकरण रहते लोक जीवन, लोक संगीत, लोक साहित्य और लोक विधाओं की चर्चा फिर–फिर क्यों होती है। पाश्चात्य मानसिकता लौटकर उसी ओर जा रही है और उसे लोक साहित्य अप्रासंगिक नहीं लग रहा। शायद सदा की तरह उन्हीं की देखा–देखी भारतीय महानगरों के सभ्रान्त क्षेत्रों में भी इधर 'लोकोन्मुखता' विशेष लोकप्रिय होती जा रही है।

निस्संदेह वैभव से उठकर और वैज्ञानिक सुविधाओं से आक्रान्त होकर किसी पुरानी विधा या परिपाटी को फिर ग्रहण करने की प्रवृत्ति अस्थायी हो सकती है, क्योंकि वह सुविधा भोगियों द्वारा अपनायी जाकर स्वार्थ के संकीर्ण दायरों में घुट सकती है लेकिन इससे लोक विधाओं का विशेष तौर पर लोक साहित्य का विशेष हित या अहित नहीं होता। अस्तु।

लोक विधाओं का उत्स लोक है, जनजीवन है। वहां की मिट्टी और संस्कार और लोक के अपने हर्ष, शोक और उसकी निजी संवेदनाएं हैं जो सीधे हृदय से आती है। वे परिवेश की उपज मात्र नहीं है, परिवेश में व्याप्त आत्मा के समान है। 'सहित' की चिरन्तन प्रगाढ़ भावना को अंतर्भूत किए लोक साहित्य लोक मानस से निःसृत है, अतः वह उसके निकट है, निष्कपट अभिव्यक्ति है और इसलिए मर्मस्पर्शिता उसका गुण ही नहीं धर्म भी है। किन्हीं अर्थों में लोक साहित्य कालजयी है, क्योंकि परम्परा की

अजस्त्र धारा वहीं से प्रसवित और प्रवाहित हो रही है।

निरंतर प्रवहमान परम्परा का वाहक लोक साहित्य किसी भी जीवंत संस्कृति की सामयिक और शाश्वत धारा से कम वेग मय नहीं होता।

अधुनातन परिप्रेक्ष्य और समकालिन संदर्भों में भी लोक साहित्य अपने तर्ज पर आज भी प्रासंगिक है। बहुत बदल जाने और बदलते रहने की नैसर्गिक प्रक्रिया के बावजूद मानव मन की रागात्मक वृत्तियां वही है।

छत्तीसगढ़ में तो जन–भावना की उत्सव धर्मिता (चाहे वह नगर हो या गांव देहात) पर्व–त्योहारों तथा अन्य मांगलिक अवसरों तथा संस्कारों पर अपने मूल उत्स की ही ओर लौटती है, लोक गीतों, लोकवाद्यों, लोकधुनों में उसके प्राण अब भी धड़कते महसूस किये जा सकते हैं। छत्तीसगढ़ ही क्यों, कोई भी देश ज्ञान–विज्ञान के अनंत, अनछुए क्षितिजों को छू आने के बाद भी धरती से मोह भंग की स्थिति में दीर्घकाल तक नहीं आ सकेगा।

लोक साहित्य धरती की जड़ों से आता है और मनुष्य से जुड़ता है– इसलिए उसकी सार्थकता और उसके संदर्भ कभी बासी नहीं हो सकते। जब तक धरती है– पर्वत, नदी, वनस्पति, धन–धान्य, पशु–पक्षी है– तक इनसे सम्वाद यानी आदान प्रदान की सहज, स्वाभाविक प्रक्रिया से भूमिपुत्र होने के नाते मानव पृथक नहीं हो सकता। धरती और मनुष्य के निरंतर सम्यक सम्पृक्ति और संप्रेषण के फलस्वरूप जो क्रियान्वयन होता है, वही कला, साहित्य और संगीत के रूप में मनुष्य खुद अपने को लौटाकर कृतार्थ होता आ रहा है।

सभ्यता आज भी कृषि पर आधारित है और कृषि निराकर्म नहीं है, वह एक अनिवार्य सृजनात्मक आकुलता है, अतः वह एक प्रकार की धार्मिक पवित्रता का पर्यावरण लिए हुए हैं। जिस देश की संस्कृति में कृषि को जितना अधिक महत्व मिला है धरती से उतना ही अधिक तादाम्य वहां का लोकमानस स्थापित कर सका है। कविता, कथा, गीत, कला आदि विविध विधाओं में उसने नए आकाश छुए हैं। छत्तीसगढ़ की आरण्यक संस्कृति और उस काल का विपुल साहित्य इसका प्रमाण है।

भाषा की जटिलता या सरलता और कलात्मक स्थूलता या बारीकी जाति के उत्कर्ष, अपकर्ष और उसके युगीन संदर्भों को रेखांकित करते हैं। वैदिक संस्कृत हो या लोक भाव, लोक का उल्लास और वेदना समान रूप से लोक साहित्य में अभिव्यक्त हुई है।

वस्तुतः शांति और संघर्ष, देश और काल, भौतिकता और आध्यात्म को जो एक समान हृदयंगम किए हैं– वह लोक साहित्य की शिराओं में व्याप्त है। वहीं से सारा अभिजात्य, कल्पना, कठोर यथार्थ और सारे बदलाव, प्रतिक्रियाएं, तल्खियां और बेचैनियां फूटते हैं। गोर्की की मां, रवीन्द्रनाथ की गीतांजली और प्रेमचंद का गोदान लोक साहित्य के योगदान के बिना अपूर्ण रहते हैं।

क्लासिक साहित्य भी लोक साहित्य का ऋणी है। छद्म भंगिमा और नकली अनुभव से लोक साहित्य का कोई संबंध नहीं। सच तो यह है कि ऋतुओं, हवाओं, जन्म–मृत्यु के बीच घूमते जीवन–रथ के चक्रघातों, मानव–मन के चक्रवातों से छनकर लोकमानस में समवेत स्वरों में जो फूटता है वही लोक साहित्य है और साहित्य उससे जितना अधिक निकट होता है, उसकी सार्वकालिकता उतनी ही निश्चित और उसकी प्रामाणिकता उतनी ही असंदिग्ध होती है।

बदलाव और नकार की कितनी ही आंधियों के बावजूद लोकधर्मिता या लोकात्मकता एक नैसर्गिकता है, जिससे विच्छिन्न होकर बहुत दिन नहीं जिया जा सकता। कविता कथा–गद्य को नई शैली, नए संस्कार देती है। लोकात्मकता से जाने–अनजाने परिचित या अनभिज्ञ रहा जा सकता है किन्तु उसकी परिव्याप्ति प्राणवायु के समान है– तर्कातीत, सहज और अनबोझिल है।

वह अनिवार्य होती है, किन्तु स्वयं घोषित या अपनी अस्मिता की गर्जना करने वाली नहीं। लोक विधाओं की एक सशक्त शाखा लोक साहित्य के बिना अपनी संस्कृति, सम्पन्नता, अपनत्व और अस्तित्व की कल्पना ही बेमानी हो जाती है। कुल मिलाकर लोक साहित्य को प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह आज भी आसानी से नहीं लगाया जा सकता।

लोक संस्कृति का रंग और धरती का प्रणय

किसी भी समाज को, किसी कलाकार की कलाकृति को समझने के लिये उसकी लोक संस्कृति को जानना आवश्यक हो जाता है। आज औद्योगिक संस्कृति के साथ लोक संस्कृति को बहुत क्षति पहुंची है और उसमें प्रदूषण भी हुआ है। वास्तव में आधुनिकीकरण, नगरीकरण और औद्योगिकीकरण से लोक संस्कृति की पटरी नहीं बैठती। जब से हमारे देश में गांवों से शहरों की ओर पलायन का क्रम प्रारम्भ हुआ है, तब से लोक संस्कृति की जड़ें भी हिली है। लोक संस्कृति को दूसरा खतरा विज्ञान और तकनीकी के आधुनिकी उपकरणों से है। सिनेमा और दूरदर्शन भले ही लोक संस्कृति के प्रदर्शन और संरक्षण का दावा करें किन्तु इससे लोक संस्कृति में प्रदूषण का खतरा बढ़ता ही है। ऐसी स्थिति में लोक संस्कृति के विभिन्न उपकरणों का संचयन, उनका संकलन और उनका संरक्षण अत्यंत आवश्यक और उपयोगी है।

भारत वर्ष में इस शताब्दी के प्रारंभ में इसी दृष्टि का प्राधान्य था और समाज में गांवों में रहने वाले सामान्यजनों के प्रति एक रूमानी लगाव पनपा। इस कारण लोक साहित्य के प्रति एक अतिरिक्त आकर्षण बढ़ा। इसी समय एक गांव की ओर चलो मनोभाव का भी जागरण हुआ और गांव की कला, गांव का गीत और गांव के मुहावरों में रूचि बढ़ी। लोक संस्कृति के इस प्रकार के संरक्षण का परिणाम यह हुआ कि जो क्रमशः विनिमय की प्रकिया सदियों से चल रही थी, वह मुक्त विस्तृत लोकधारा एक अपने में सिमटी धारा बन गयी, और दूसरा परिणाम यह हुआ कि लोकप्रिय संस्कृति का उद्‌भव हुआ जिसकी कोई खास पहचान नहीं है, सिवाय इसके कि कुछ वस्तु–विचार अभिव्यक्तियों, डिजाइनों को लोक संस्कृति से प्राप्त करके उसकी अमर्यादित प्रकृति जीवन की दुर्दान्त प्रवृत्तियों से जोड़कर एक आकर्षक पर वास्तविक चित्र खड़ा कर दिया जाता है, जिसमें न तो समाज–व्यवस्था के द्वारा स्वीकृत मर्यादाएं रहती हैं न लोक संस्कृति। वस्तुतः एक अपसंस्कृति है जो भोगवादी विज्ञापन–परायण सभ्यता की देन है। इसके कारण शुद्‌ध लोक संस्कृति का निर्धारण कठिन हो गया। लोक संस्कृति के नाम पर अपमिश्रित लोक–संस्कृति अधिक प्रबल हो गई है यद्यपि हमने लोक शब्द को फोक का पर्याय माना है, जैसे धर्म का पर्याय

रिलीजन को माना जाता है, पर इसमें परम्परा से चली आती कुछ स्पष्ट अवधारणाएं अंतर्भूत है जिनके कारण लोक व संस्कृति हमारे लिए कोई अलग–अलग चीज नहीं है। कोई गांव में रहता हो या न रहता हो वह गांव की समृद्धि संस्कृति को समोये रहता है।

लोक संस्कृति की पत्रिका 'मड़ई' कैलेन्डर कला, जनमानस और लोकप्रिय संस्कृति ''में लेखक देवेन्द्र इस्सर ने अपने लेख में बड़े बेबाक ढंग से लिखा है कि– जब तक हम आम लोगों की सामाजिक, भौगोलिक, क्षेत्रीय और मनोवैज्ञानिक बंदिशों तथा उनकी सौंदर्य चेतना के प्रशिक्षण को नजर अंदाज करते रहेंगे तब तक कोई भी कला प्रवृत्ति सामान्यतः लोकप्रिय नहीं हो सकती और न ही सौंदर्य के अभाव की क्षतिपूर्ति कर सकती है। यदि एक ओर कला पर अभिजात्य का एकाधिपत्य है तो दूसरी ओर लोककला के स्रोत धीरे–धीरे सूखते जा रहे हैं जिसके कारण सांस्कृतिक शून्य की स्थिति उत्पन्न हो रही है।

सुल्तान अहमद ने 'लोकवाद की चन्द लोकप्रियतावादी विसंगतियां' में ठीक ही लिखा है कि– इधर लोक–साहित्य की सबसे ज्यादा दुहाई कौन दे रहा है ? जो सबसे ज्यादा लोक से कटा हुआ है। गांव से भागकर शहर आये, शहर से भागकर विदेश गये। कहीं अपना कोई संबंध बना नहीं पाये। पैसा कमाने की मशीन बन गये। मन को उत्साहित करने वाली भावनाएं नहीं रह गयी तो याद आयी लोककला की। भांगड़ा हो रहा है तो प्रायः साहबजादे मटक रहे हैं। भवाई हो रही है तो अमूमन शरीफजादे हुलस रहे हैं। लो साहब ! हम भी जुड़ गये लोक से। और वास्तविकता यह है कि लोक का कोई भी हिस्सा इनके घर में घुसने की कोशिश करे तो उसका स्वागत करेंगे अल्सेशियन। लोक तत्वों की जोड़–बटोर से भले ये एक काल्पनिक 'दूसरा लोक' निर्मित कर लें।

'आधुनिक लोक की पहचान' जयप्रकाश साव लोक संस्कृति के नाम पर संरक्षणवादियों का मुखौटा सप्रमाण प्रस्तुत करने में नहीं चुके हैं जैसे– संरक्षणवादियों का विश्वास है कि राज्य अपने प्रयत्नों से लोक संस्कृति को जीवित रखने के लिए संकल्पित हो तो उसे बचाया जा सकता है। यह एक तरह का सरल आशावाद है। लोक के संरक्षण की गुहार उस राजसत्ता से की जा रही है जिसने विकास की प्राथमिकताओं के नाम पर प्रारंभ से ही परम्पराओं को नजर अंदाज किया है, यद्यपि उसकी भंगिमाओं में संस्कृति और परम्पराओं को सम्मान देने वाली आधुनिक संस्थाओं–सरीखी

उदारता परिलक्षित होती है। सच तो यह है कि उसने यत्न पूर्वक ऐसी भंगिमा अपना रखी है। संस्कृति से संबंधित अकादमियों के कार्यकलापों में आखिर जो कुछ भी हम देखते हैं वह राजसत्ता की उदारमुद्रा के अलावा और क्या है। कहना न होगा कि यह एक खुला और निर्लज्ज छल है। वह सांस्कृतिक कार्यक्रमों को ही कुल संस्कृति मानती है और जनता को भी ऐसा मानने के लिए प्रेरित करती है। इस तरह के प्रायोजित प्रयत्नों से लोक और उसकी संस्कृति का संरक्षण जाहिर है, हरगिज मुमकिन नहीं। मड़ई के अधिकांश लेखों में लोक संस्कृति के प्रसंग आते हैं किन्तु उन प्रसंगों के माध्यम से लेखक आपनी बात निर्भिकता से कह जाता है और संपादक– डॉ. कालीचरण यादव बहुत कुछ कर गुजरता है। इस तुलना में मड़ई के लेखों को सफलता पूर्वक प्रस्तुत करने में संपादक एकदम सफल हो जाता है। मड़ई लोक संस्कृति की बहुरंगी पत्रिका है जिसमें लोक संस्कृति का चटक रंग और धरती का प्रणय है।

मड़ई वास्तविकता के धरातल पर रहते हुए, जीवन के यथार्थ को अपनी पैनी दृष्टि जैसी पन्नों में सभी स्मृतियों को संजोकर जान डालते हुए आगे बढ़ जाते हैं। लोक संस्कृति जैसी स्मृतियों में खोया ऐसा कलाकार (संपादक) है जिसमें विचारों की कश्मकश है। अपनी अस्मिता की सुरक्षा के लिए धरती और जन–जीवन से जुड़े रहना परमावश्यक है। हवाई महल से केवल मन बहलाया जा सकता है जीवन यात्रा को संगत, सुखद और सार्थक बनाने के लिए धरती का आधार लेना अनिवार्य है।

संस्कृति में प्रतिबिम्बित लोक साहित्य

जरा याद करें कि क्या आप अपने जीवन में कभी गुनगुनाएं नहीं या आपने बातचीत में कभी लोकोक्ति अथवा मुहावरों का प्रयोग नहीं किया। गीत हमारे जीवन में घूल मिल गया है वह लोक का एक अंग, एक स्वभाव बन गया है वह लोक साहित्य में लोकगीत का महत्वपूर्ण स्थान बना है। कई बार इन्हीं गीतों के सहारे मनुष्य ने अपने जीवन की लम्बी एवं कठिन यात्रा गुनगुनाते हुए आसानी से तय की है। मां की लोरियों के साथ–साथ क्या हम दादी–नानी की कथाओं, कहानियों को भुला सकते हैं?कभी नहीं।

लोक साहित्य के महत्व को इस बात से आसानी से समझ सकते हैं कि लोक कथा को कथा साहित्य का जनक और लोक गीत को काव्य की जननी माना जाता है। लोक साहित्य में कल्पना प्रधान साहित्य की अपेक्षा लोक जीवन की झलक सहज ही देखने को मिलती है। भावनात्मक हृदय के उद्‌गार उनकी संस्कृति में प्रतिबिम्बित होते है। लोक साहित्य द्वारा लोक संस्कृति को लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। लेकिन आज समस्त लोक साहित्य को स्वयं अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए कई तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है।

लोकचेतना संस्कृति और साहित्य की परिचायक मानी जाती है, किन्तु वर्तमान में मशीनी और कम्प्यूटरीकृत समाज की लोकचेतना शून्य होती जा रही है। क्या आज के साहित्य का मूल्यांकन लोक जीवन, लोक संस्कृति की दृष्टि से किया जा सकता है?क्या जो साहित्य लोक जीवन से जुड़ा होगा वही जीवंत है?

हमारे समाज में नगरीय और ग्राम्य दो संस्कृतियों का उल्लेख मिलता है, किन्तु लोक दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। यह भूमि माता है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूं। (माता भूमिः ह पृथिव्याः) अथर्वेद में यह सुक्ति लोक महाप्राण है। लोक जीवन इस सुक्ति के आशय का प्रतिनिधित्व युगों से कर रहा है, अतः वही लोक साहित्य की आधार शिला है।

भारतीय लोक साहित्य के अध्ययन का सर्वप्रथम सूत्रपात् सन् 1846 में इंग्लैड के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता जॉन टॉमस ने किया और फोकलोर ने नया शब्द एंग्लो सेक्शन शब्द ''फो'' का अर्थ असंस्कृत लोग और ''लर'' से बना ''लोर'' शब्द का अर्थ सीखा गया। इस तरह ''फोकलोर'' का अर्थ असंस्कृत लोगों का ज्ञान हुआ। इसके पर्यायवाची शब्द के लिए विद्वानों में

बड़ा मतभेद है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने ''फोकलोर'' शब्द का हिन्दी पर्यायवाची शब्द ''लोकवार्ता'' बतलाया है। ड़ॉ. सुनीती कुमार चटर्जी ने ''फोकलोर'' के लिए ''लोकायन'' एवं कुछ विद्वानों ने ''सोकायन'' शब्द दिए हैं। कुछ विद्वानों ने कहा कि लोक साहित्य मौखिक होता है अतः इसे साहित्य न कहकर वांड्मय कहना चाहिए। ड़ॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार ''फोकलोर'' के लिए ''लोक संस्कृति ''

शब्द के प्रयोग को पर्याप्त समर्थन मिला क्योंकि लोक संस्कृति में लोक साहित्य का अंतर्भाव होता है। वैसे तो लोक में साहित्य व्यापक है, फिर भी मुख्य रूप से इसे लोक गीत, लोकगाथा, लोककला, लोकनाट्य और लोक सुभाषित जैसे मुहावरें, पहेलियों, लोकोक्तियों के रूप में संकलित करते हैं।

लोक साहित्य में इनका संकलन का कार्य व्यक्ति अथवा संस्थाओं द्वारा नाममात्र को हो रहा है। जितनी धीमी गति से यह संकलन हो रहा है उससे कई गुना तेज गति से गांवों का शहरीकरण हो रहा है और लोक जीवन तेजी से बदल रहा है।

लोक साहित्य की भाषा अलग–अलग होने पर भी वह भावों की दृष्टि से एक रहा है। लोकभाषाओं ने लोक कहावतों के माध्यम से राष्ट्रभाषा और देश की कविता में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। एकता केवल एक या दो लोगों की चिन्ता नहीं बल्कि राष्ट्रीय चिंता है। राष्ट्रीय एकता में सहायक लोक साहित्य का सृजन ऐसे समय में बढ़ने के बजाय घट रहा है। गांधीजी के शब्दों में ''लोक वार्ता'' लोगों का साहित्य है पर वह लुप्त होती हुई सामग्री यदि अब नष्ट न हो चुकी हो से संबंधित है। ''लोकवार्ता'' का क्षेत्र बहुत व्यापक है। लोक साहित्य लोक वार्ता का एक महत्वपूर्ण भाग है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि लोक साहित्य कभी लुप्त नही होता या लुप्त नहीं हो सकता। साहित्य की इस अमूल्य धरोहर, लोक साहित्य को जाने अनजाने अपूरणीय क्षति पहुंचा सकती है। यदि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहें तो बहुमूल्य सम्पत्ति को नष्ट हो जाने देना किसी प्रकार वांछनीय नहीं है। उसे यथासंभव विशुध्द रूप से सुरक्षित रखने का प्रयास हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है।

साधारणतः मौखिक रूप से परम्परागत या लम्बे समय तक स्मृति में चले आते, गीत,कथानक इत्यादि लोक साहित्य में आते हैं। यदि कोई लोक भाषा में रचना करता है तो वह लोक कवि कहला सकता है, लेकिन जब तक उसे लोक जीवन में गाया नहीं जाएगा, तब तक उसे लोकगीत नहीं

कहलाएगा, लेकिन आज के लोक जीवन में फिल्मी धुनें व गीत बरबस ही होठों पर आते जाते हैं। लोक गीतों के स्रोत सूख चुके हैं। भारत के गांव में अब लोक स्वर नहीं गूंजते । गुरूदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर की बात याद आती है। उन्होंने कहा था कि ''एक दिन ऐसा आएगा कि गांवों की रसधारा सूख जाएगी।''

अब लोकगीत गांवों की निर्मल स्वर धारा में बहने के बजाय लोक जीवन अश्लीलता लिए हुए फिल्मी धुनों में बह रहा है और लोक गंगा मे विसर्जित होते हुए पूरी गंगा को मैली कर रहा है। लोक साहित्य के संकलन और सृजन का स्रोत बदल रहा है। फिल्में, टीवी (दूरदर्शन आदि) उन्हें जिसे संस्कृति की शिक्षा दे रहा है, वह जीवन संस्कृति से दूर है, लोक साहित्य भी पुस्तकाकार नहीं हो पा रहा है। जबकि विद्वानों की मान्यता है कि वेद जैसे अनेक ग्रंथ लोक संस्कृति की ही देन है। गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में लोक संस्कृति के अनेक आयाम उभरे हैं। लोक के अनेक पक्ष कवितावली, गीतावली आदि रचनाओं मे दिखाई पडते हैं। उनका काव्य लोक और वेद के ताने–बाने से बुना गया है। रीतिकाव्य में लोक संस्कृति का अंकन बहुत कम हुआ था पर भारतेन्दु ने साहित्य को लोक संस्कृति से जोड़ा। लोकसंस्कृति में सिर्फ लोकगीत, लोक कथा ही नहीं आते, नाट्य संगीत, नाटय चित्र और हस्त कौशल भी आते हैं। इनके संरक्षण के प्रयास पर्याप्त नहीं हो रहे है। जिसके फलस्वरूप ये लोक कलांए धीरे–धीरे खत्म होती जा रही है। ये कलांए यथावत रहे इसके लिए समाज जनजाति कबीलों को आधुनिक बनाने के पक्ष में नहीं हैं। अमेरिका में यही किया जा रहा है, उन्हें अजायबघरों में सुरक्षित शीलाखंडों व चित्रों की तरह रखा जाता है। परिणाम स्वरूप यह कबीले लुप्त होते जा रहे हैं। आवश्यकता यह है कि उन्हें आधुनिक भी बनाया जाए और सुरक्षित भी रखा जाए।

आधुनिक साहित्य के विद्वनों ने माना है कि लोक साहित्य कला और साहित्य तक सीमित नहीं है बल्कि उसमें अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोस रत्न छुपे हैं। भारतीय समाज में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक संस्कार होते हैं और यह संस्कृति का आधुनिक और शार्टकट जीवन से धीरे–धीरे खत्म होती जा रही है। समाज में इलेक्ट्रानिक मीडिया द्वारा दूसरी संस्कृति का जन्म हो रहा है।

निःसंदेह लोक संस्कृति का स्त्रोत गांव ही है और गांवों का निरंतर शहरीकरण होता जा रहा है। जब गांव खत्म हो रहे हैं तो लोक संस्कृति खत्म हो रही है । लोक साहित्य भी खत्म होगा ही । यदि शेष कहीं हैं तो

लाइब्रेरियों में कैद है। दूरदर्शन, सिनेमा के द्वारा भौंडे रूप में प्रस्तुत हो रहा है। अब लोक संस्कृति की झलक स्वतंत्रता दिवस की झांकियों मे सिमटती जा रही है, लोक की भाषा और आवश्यकता बदल रही है, जो समय के साथ स्वाभाविक है। अपनी आवश्यकताओं के वशीभूत मनुष्य परम्पराओं को तोड़ता जा रहा है। अभूतपूर्व सौंदर्य से युक्त लोक साहित्य के स्वर निरंतर खोते जा रहे हैं। किन्तु नया लोक साहित्य का सृजन नहीं हो पा रहा है, क्योंकि समूचे लोक का ही रूपांतरण होता जा रहा है और वर्तमान रूपांतरित लोक का कहीं कोई जीवन साहित्य दृष्टिगत नहीं होता है।

अब गांव टीवी, रेडियो, ट्रांजिस्टर, सिनेमा से अनभिज्ञता रहित नहीं है। परम्परागत गीत पर फिल्मी धुनें–हावी है। रेडियो, ट्रांजिस्टर की आवाज लोक स्वरों को दबाती जा रही है। अब खेतों में हल नहीं, गांवों के कच्चे घरों में चक्की नहीं, पनिहारियों की पनघट नहीं, सावन के झूले जिन पर डले वे अमराईयां नहीं, फिर लोक धुनों पर मन के गीत कैसे गुनगुनाएं ।

अब जरूरत है चुनौती भरी परम्परा को आत्मसात करें और लोक संस्कृति से और नैसर्गिक प्रकृति से फिर जुड़ें।

छत्तीसगढ़ में लोक नृत्यों पर बढ़ता संकट

छत्तीसगढ़ में इधर हाल में कुछ वर्षों में लोककला रूपों, लोकगीतों, नृत्यों, संगीत तथा अन्य प्रदर्शनकारी कलाओं के क्षेत्रों में एक रचनात्मक हलचल हुई है। नागरी कलाओं का सहृदय रसिक समाज भी इस ओर आकर्षित हुआ है। कई छोरों पर एक साथ नई जीवंतता भी दिखाई दी है। इससे कलाचिंतन में निश्चित तौर पर परिवर्तन दिखाई दिया है। लेकिन इधर कला क्षेत्रों की अनुकूल हलचल अब कहीं–कहीं एक बैचेनी का भाव यदि लेती जा रही है तो उनकी जांच–पड़ताल जरूरी है। जिस तरह इन दिनों साहित्य को आज के जीवन में गैर जरूरी सिद्ध किया जा रहा है, उसी तर्ज पर हमारी कलाओं के देशज रूपों के तिरस्कार के 'कारण' भी स्पष्ट दिखने जरूरी है। साहित्य और कला का जब तक विकल्प नहीं मिल जाता, तब तक वे हमारे जीवन में रहेंगे। कम से कम लोककलाओं के बाबत् इतना कहा जा सकता है कि इनका संरक्षण तभी हो सकेगा जब तक ये हमारी स्मृतियों में रहेगी। लोकस्वरूप किताबों, ग्रंथों, इतिहास या संग्रहालयों के लिये नहीं होते। वे जीवंत अनुभव है।

'लोकनृत्यों' को केवल प्रदर्शनकारी कला कहने से ऐसा बहुत कुछ छूट जाता है, जिसे पहचानना जरूरी है। हमारे आम आदमी की त्रिशंकु स्थिति है। वह शास्त्रीय कलाओं से भी उतना ही दूर है जितना लोक कलाओं से। 'लोकनृत्य' तो अपने समाज के दस्तावेज होते हैं। इधर समाज का रूप ही नहीं, समय भी बदल रहा है। अतः यह स्थिति सीधे संस्कारों पर आक्रमण की स्थिति है। किसी भी समाज में जब किन्हीं कारणों से नागरी (या शास्त्रीय) और लोककलाओं के बीच एक बड़ा अंतर पैदा हो जाता है तो यहीं से कला का क्षरण शुरू होने लगता है। कला अपने आप में हमें कोई बड़ा विचार नहीं देती, यह काम साहित्य का है, लेकिन कलाएं हमें बेहतर समझ देती है।

'लोकनृत्यों' पर सोचने–समझने के क्रम में यह कहना जरूरी है कि लोक चिंतन के अभाव में, इधर हमारी लोकनृत्य परंपरा हमारे लिए अजूबी या पराई होती जा रही है। लोकनृत्यों में हम केवल कौशल या करतब देखने के आदी हो रहे है। बहुतों के लिए वे एक समाजशास्त्रीय स्त्रोत या दृश्य–कोष होते जा रहे हैं। नागरी समाज में लोकनृत्यों के लिए यह

परायापन, गणतंत्र दिवस समारोह में तब दिखता है, जब एक समाज, राजपथ पर विचित्र पोशाकों और थिरकन में नाचता होता है, तो दूसरा समाज कुर्सियों पर बैठा उन्हें देख रहा होता है। लोकनृत्यों का सबसे बड़ा गुण, उनमें सहयोग और सहभागिता रहा है। विभिन्न अंचलों के लोकनृत्यों के रूपाकार, गीत, संगीत, लय, पदसंचालन, आंगिक आकार और प्रस्तुति भिन्न हो सकती है, किन्तु उनके मूल तत्वों में बहुत समानता है। अपने संप्रेषण में वे दर्शकों को सुख नहीं, आनंद देते हैं। लोकनृत्यों का आल्हाद, उमंग और खुलापन स्वयं में मुक्तिनाद है। लोकनर्तकों का समूह, किसी और के लिए नहीं, अपने लिए नचाता है। वह नाचते हुए स्वयं भी आनंदित होता है। यही कारण है कि उसमें आत्मीयता अधिक है। ग्रामीण मेलों में वृत्ताकार या अर्धवृत्ताकार नाचता हुआ समुदाय, केवल नृत्य नहीं कर रहा होता। वह दर्शकों को नृत्य में शामिल होने की दावत भी देता है। पूरे वृत्त में कोई अपाहिज दर्शक भी, शामिल होने के बाद उतने ही कौशल और नृत्यानुशासन से सहयोग दे पाता है। लोकनृत्य, एकल नहीं होते। एकल परम्परा शास्त्रीय नृत्यों की देन है। यहां एक ओर अंतर दिखता है कि शास्त्र या संस्कृति हमें, बड़े समाज से विलग करके एक इकाई का रूप देती है जबकि लोकनृत्य हमें समाज से जोड़ते हैं। लोकनृत्यों में पूरा समुदाय शामिल हो सकता है। वह संयुक्त परिवार जैसा धरातल है। लोकनृत्य चूंकि प्रकृति के अधिक समीप है, इसलिए वे मौलिक है। वे संस्कृति नहीं, संस्कार है। संस्कृति तो हमें मूल से काटकर परिष्कृत करती है। लोकनृत्यों के रूपाकारों में, वृत्त या अर्धवृत्त का होना केवल भौगोलिक या मनोवैज्ञानिक कारणों से नहीं है। वे रूपाकार सबको सहभागी बनाने के भाव के साथ एक दूसरे के लिए जगह देते हैं। एक–दूसरे का हाथ पकड़ कर वे केवल नाचते नहीं, अपने समाज में पारस्परिक सहभागिता और सबको शामिल होने का बिम्ब भी बनाते हैं। लोकनृत्यों में कोई अकेला नहीं होता।

इधर पल–पल बदलते सांस्कृतिक परिवेश ने लोकनृत्यों के शुद्ध, सहज और स्वाभाविक स्वरूपों के लिए संकट पैदा किया है। आंचलिक संस्कारों के दोहन के कारण अब लोकनृत्यों में –छत्तीसगढ़ की पहचान' कम होती जा रही है। सरकारी प्रोत्साहन के नाम पर जिस तरह संस्कृति का मानकीकरण किया जा रहा है, उससे लोकनृत्यों का स्वाभाव बदल रहा है। संस्कार द्वारा उन्हें 'डेकोरेशन पीस' बनाकर एक 'लुभाऊ' वस्तु बनाया जा रहा है कि ताकि वे पर्यटन उद्योग के लिए 'कच्चा माल' बन सके। लोकनृत्यों की मूलवृत्ति या उनकी प्राकृतिकता में यह खुला हस्ताक्षेप,

परदेसियों के लिए लोकनृत्यों को 'परोसा' जाना है। उन्हें समकालीन या आधुनिक बनाकर, कृत्रिम रूप दिया जाने लगा है। प्रश्न यह भी है क्या लोकनृत्यों में सम–सामयिक परिवर्तन अवांछनीय है। क्या उनके आचरण में बदलाव लाना, उन्हें विकृत करना है। अब सवाल यह है कि यदि हमारी लोक परम्पराओं पर कोई विकास या बदलाव उन्हें विकृत करता है तो वे संग्रहालयों की सामग्री बन जाएं। क्या विकास का कोई भी लाभ उन्हें नहीं दिया जाना चाहिए।

मेरे विचार से दोनों पक्षों के बीच तीसरा रास्ता निकाला जाना चाहिए। हमने देखा है कि परंपराएं और संस्कार कोई आयातित परिवर्तन स्वीकार नहीं करते हैं। वे समय के साथ प्राकृतिक रूप से बदलते हैं। परम्परा स्वयं में विकसित होने की प्रक्रिया है लेकिन जब हम अपनी जरूरतों और स्वार्थ के लिए उनमें कतार–व्यौंत करते है तो विकार आने लगता है। ऐसा नहीं कि उनके अभाव ही उन्हें कलाकार के रूप में शुद्ध बनाये रख सकते हैं। उन्हें विकास के लाभ मिलने चाहिए लेकिन उनके संस्कारों में अतिक्रमण, उन्हें अश्लील और बनावटी लगता है। धीरे–धीरे लोकनृत्यों के प्रदर्शन, व्यावसायिक और व्यापारिक होते जा रहे हैं। ''छत्तीसगढ़ के लोकपर्वों'' में उन्हें धनी और चमत्कृत किया है, लेकिन धीरे–धीरे इन स्वार्थी प्रत्यनों से वे एक मानक संस्कृति का शिकार होते जा रहे हैं। लोकनृत्यों का मुक्त स्वभाव समाप्त होता जा रहा है। वे मंचों पर कृत्रिम वातावरण में नकली हो रहे हैं। उन्हें बताया जा रहा है। जैसा हम कहते हैं, वैसा और उतना नाचो, वे नाचते हैं, पर अब उनके साथ उनकी आवश्यकता और अभाव नाचते हैं, उनका मन नहीं नाचता।

यूं भी लोककलाएं, हमेशा हीन भावना का शिकार रही है। उन्हें वह सम्मान और प्रतिष्ठा समाज ने नहीं दी, जो नागर कलाओं को मिली। यही कारण है कि मंच पर अब वे एक फिलर आयटम की तरह प्रस्तुत किए जाते है। भारतीय लोकनृत्यों में जैसा नकलीपन, उत्तर भारतीय क्षेत्रों में आया है उतना दक्षिण भारतीय क्षेत्रों में नहीं आया। अंचल अब भी अपनी भाषा, रहन–सहन स्थानीयता और आंचलिकता से जुड़ा है। इसीलिए बाहरी हस्तक्षेप उन्हें विकृत नहीं कर सके। उत्तर भारत में इसके विपरीत स्थितियाँ रहीं। आंचलिक विशेषता, जातीयता और स्थानीयता से रहित उनका जनजीवन बिखराव में रहा। मिश्रित भाषा, मिश्रित रहन–सहन, मिश्रित आचरण के कारण लोककलाओं में शुद्धता का क्षरण होता रहा। लोकनृत्य

केवल मनोरंजन के लिए उछल–कूद और व्यायाम में बदल गये। उन्हें सरकारी विभागों में परिवार नियोजन की प्रचार विधा में बदल दिया और उनका स्वरूप यदि बिगड़ रहा है तो यह दोष उनका नहीं है। निरंतर कलुषित होते 'लोक' को देखते हुए इक्कीसवीं सदी में लोकनृत्य क्या आकार ग्रहण करें यह समय बताएगा, लेकिन अब भी समय है कि उनकी ऊर्जा और खांटी रचनात्मकता को बचाया जाए। फिल्मों में लोकनृत्यों के नाम पर जो फूहड़ 'केरियोग्राफी' की जा रही है, वह परम्परा का मनोबल तोड़ने में लगी है। शिक्षित और सभ्य समाज की उपेक्षा और तिरस्कार के कारण लोकनृत्य अब भीतर से बदल रहे है। उमंग और उल्लास के लोकनृत्य ददरिया की जो गति महानगरों में निम्न वर्गीय समान ने अपनी उत्तेजना के लिए की है उसमें केवल स्खलित होती ऊर्जा बची है। ददरिया बारात का नाच बन कर रह गया है।

यही समय है जब लोकनृत्यों और लोककलाओं की मौलिक पहचान, इनके विकृत किये जा रहे स्वरूप का विरोध करने और इनका असामयिक क्षरण रोकने के लिए समाज का प्रबुद्ध और संस्कृति कर्मी वर्ग सार्थक और रचानात्मक हस्तक्षेप करें। यही प्रयास अपनी परम्पराओं और संस्कारों से हमार भूला हुआ रिश्ता फिर से बनाने के काम करेंगे। लोकनृत्यों को सराहने के साथ–साथ उनकी चिंता करने की भी जरूरत है।

हमारे छत्तीसगढ़ के जितने ग्रामीण अंचल हैं, इतने ही आंचलिक कलारूप है। एक स्पष्ट और सुनिश्चित सांस्कृतिक नीति के अभाव में अब लोकनृत्य भी उच्छृंखल होते जा रहे हैं। आवश्यकता है आंचलिक प्रकृति और उसका मूल रूप बचाये रखने की। लोकनृत्यों को सामाजिक सम्मान मिलना चाहिए। 'लोक' जब तक हमारे जीवन में है, तब तक हम उससे अपना रिश्ता बनाये रख सकते है। भूमंडलीकरण के इस दौर में रेड इंडियन लोगों के लोकनृत्यों तथा छत्तीसगढ़ी लोकनृत्यों के बीच का अंतर समझा जाना चाहिए। यद्यपि दोनों की उमंग और ऊर्जा के मूल तत्व एक से है। लोकनृत्यों को भूगोल या इतिहास नहीं नचाता। उसे इंसान नचाते हैं। इंसान के बदलने की प्रक्रिया में यदि वह 'मैकेनिकल' हो रहा है तो यह विकास, लोकनृत्यों का संकट है। लोकनृत्य अकेले कभी नहीं नाचते। नाचता है मन का उल्लास। दिनों–दिन संवेदना रहित होते जा रहे जीवन में यदि उल्लास भी कंम्प्युटरीकृत हो जाएगा तो हम नाचेंगे तो क्या, एक दिन हिलने–डुलने को भी तरस जाएगें। निरंतर 'प्रोज' होते जा रहे जीवन में हमें चाहिए कि हम 'लोकनृत्यों' को कविता की तरह बचाएँ।

संवेदनात्मक अनुभूति का आधार संगीत

कलाओं के ऐतिहासिक, दार्शनिक, सामाजिक एवं कलात्मक स्वरूप को समझने के दो पहलू हैं–एक उसका शास्त्रीय पक्ष और दूसरा उसका लोक–पक्ष। कला का शास्त्रीय पक्ष मनुष्य को जीवन की अथाह गहराई, गम्भीर मंथन, मानक उहापोह, सौन्दर्य–चिन्तन एवं शैलीगत नियमोपनियमों के ताने बाने की ओर ले जाता है। और कला का लोक पक्ष मनुष्य को समतल जीवन के मार्मिक यथार्थ, सामाजिक विश्वास और उनकी कलात्मक अभिव्यंजना की ओर अग्रसर करता है।

शास्त्रीय कला का मूल आधार व्यक्ति की प्रतिमा, संवदेनात्मक अनुभूति एवं कला के विभिन्न उपकरणों के अधिकार में निहित है। और लोककला का प्रेरणात्मक बीज सामाजिक विश्वासों, रीति–रिवाजों, उत्सवों–त्योहारों के मार्मिक मूल्यों में अंकुरित होता है। एक में व्यक्ति प्रधान है, दूसरे में समाज प्रधान है। एक में वैयक्तिकता का साम्राज्य है तो दूसरे में सामाजिकता का प्रभुत्व है। शास्त्रीय कला का सजग व्यक्तित्व निश्चित ही समाज का अंश होता है। उसके विश्वास, उसकी शैली, उसकी कला के स्वरूप समाज की प्रचलित धारणाओं एवं शैलियों से ही सौन्दर्यानुभूति एवं अभिव्यंजना ग्रहण करते हैं। किन्तु अनुभूति एवं उसकी अभिव्यक्ति के बीच व्यक्ति का अपना जीवन–दृष्टिकोण, अपनी साधना एवं वस्तु–तथ्य की व्याख्या का रूप प्रमुख रहता है। लोक कलाओं के सृजन में व्यक्ति एवं उसका व्यक्त्वि प्रमुख नहीं रहता। सामाजिकता एवं विभिन्न परम्पराओं से अभिभूत लोक–कलाकार अपनी समाजगत सीमाओं में ही कला के स्वरूप को विकसित करता है। लोक–कलाकार सामाजिक जीवन के समुद्र में बूंद की तरह खोया रहता है।

शास्त्रीय कला में व्यक्ति स्वतंत्र है। किन्तु उसी अबाध स्वतंत्रता पर शास्त्रों के कठोर निमयों और कला के माध्यम उसकी सीमाओं का प्रतिबंधन रहता है। नियमों का उल्लंघन आसानी से स्वीकार नहीं किया जा सकता। लोक कला पर नियमों एवं शास्त्रों का पहरा नहीं होता। किन्तु लोक कलाकार के मानस पर जीवन के तात्कालीन मूल्यों की सीमाऐं रहती हैं। और इन्हीं सीमाओं में लोक कला विकसित होती है।

शास्त्रीय कला की अपनी परम्परा एवं अपनी रूढ़ियाँ होती है।

परम्परा शास्त्रीय कला को जीवन अनुभव प्रदान करती है। और रूढ़ियाँ उसकी अप्रतिहत गति को रोकने में लगी रहती है। कलाओं के लिए परम्परा एक स्वस्थ शक्ति और रूढ़ियाँ निर्जीव बंधन है। यही स्थिति लोक कला की भी है। लोक कला की अपनी परम्परा होती है अपनी रूढ़ियाँ होती है। एक उसे विकासमान बनाती है दूसरी उसके विकास में बाधा उत्पन्न करती है। शास्त्रीय और लोक कला दोनों अपने–अपने कलात्मक क्षेत्रों से प्रेरणा, संवेदना और विषयवस्तु की खोज करती है।

ललित कलाओं के अपने–अपने शास्त्रीय एवं लोक पक्ष हैं। सभी की समस्याएँ भिन्न–भिन्न है। क्योंकि सभी कलाओं के माध्यम भिन्न हैं। और इन माध्यमों के विकास की अपनी स्वतंत्र कहानी है। काव्य कला के शास्त्रीय अध्ययन में भाषा का विकास, शब्दों की शक्ति, काव्यानुभूति के विषय, अलंकार, छंद और रस की विवेचना का महत्व है। चित्रकला में रंग, रेखा अनुपात एवं दृष्टिक्रम का जटिलतम विवेचन है। यही सच्चाई मूर्तिकला के सृजन में महत्वपूर्ण है। इन सभी कलाओं ने अपने–अपने शास्त्र रचे हैं। कलात्मक अनुभूतियों ने विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ अथवा संकेत निर्मित किये हैं कलाओं के माध्यमों को समझने के लिए शास्त्रों ने सूक्ष्म से सूक्ष्मतम विभाजन एवं विवेचन तैयार किये हैं। हर वस्तु को माईक्रोस्कोप से देखने का उपक्रम किया है। इसी प्रकार कलाओं के लोक पक्ष भी हैं। किन्तु जिनका अपना शास्त्र नहीं है, जिनमें केवल सामाजिक विश्वास की प्रेरणा है और जिनमें सहज अनुभूतियों के सहारे सौन्दर्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। लोकसाहित्य की भाषा, लोक चित्रकला की रंग–बिरंगी रेखाएँ, लोक मूर्तिकला के आकार–प्रकार के विषय में शास्त्रों की रचना नहीं हुई। उनके बनाने एवं रचने के नियम अवश्य हैं किन्तु वे नियम सामाजिक मनुष्य के अचेतन मन की सम्पत्ति है। नियमों की शास्त्रीय अथवा सूक्ष्म खोजबीन नहीं की गई।

शास्त्रीय और लोक पक्ष के कलात्मक विवेचन में दो अन्य समस्याएँ खड़ी होती है। कला के माध्यम एवं उसके उपकरण क्या हैं?और कला के विषय क्या है?कला का माध्यम वह तथ्य है जिसमें कला का विशिष्ट स्वरूप का सृजन किया जाता है। काव्य में भाषा एवं लिपि, चित्र में रंग व रेखा, मूर्ति में पत्थर, लकड़ी, धातु, हड्डी या अन्य वस्तु उनके आकार–प्रकार भवन में पत्थर चूना एवं लकड़ी व संयोजित प्रयोग कला के विभिन्न माध्यमों की स्थापना करते हैं। इसी प्रकार यदि हम कलाओं के उपकरणों का अध्ययन

करें तो ज्ञात होगा कि भवन एवं मूर्तिकलाओं के उपकरणों का स्वरूप स्थूल है। भवन का निर्माण करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वे लोहे व लकड़ी के बने हुए स्थूल औजार हैं। इसी प्रकार मूर्तिकला में छैनी, हथोड़ा व करणी आदि की आवश्यकता होती है। चित्र कला में ब्रश, पेंसिल एवं विविध रंग बनाने के वैज्ञानिक तरीके हैं। ये सभी उपकरण स्थूल हैं। इन स्थूल उपकरणों पर सभ्यता के विकास एवं वैज्ञानिक अन्वेषणों का सीधा प्रभाव पड़ता है। और यह प्रभाव कला के सर्जित स्वरूप को परिवर्तित कर देता है। काव्य अथवा साहित्य के उपकरण इतने स्थूल नहीं है अतः भाषा के विकास पर वैज्ञानिक गतिविधि का सीधा प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु यहाँ समझ लेना भी आवश्यक है कि भाषा के सांकेतिक स्वरूप का निर्माण लिपि के रूप में हुआ। लिपि को लेकर अनेक साधनों की खोज की गई। आधुनिक युग में लिपि के लिए छापेखाने का निर्माण हुआ। और इस वैज्ञानिक खोज ने अवश्य ही परोक्ष रूप से साहित्य एवं उसके भावमय स्वरूप पर गंभीर प्रभाव डाला। किन्तु भाषा और साहित्य का सीधा संबंध मनुष्य की वाणी मन और मानवीय तथ्यों को प्रभावित नहीं कर सके। संभवतया इसीलिये सभ्यता का विकास जिस गति से हो जाता है उसी गति के साथ भाषा का विकास नहीं होता। सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में अनेक–अनेक क्रांतियाँ समाज के संबंधों में आमूल चूल परिवर्तन ला देती है। जो कुछ था वह नहीं रहता और जो कुछ नया बनाता है वह बिल्कुल नया होता है। किन्तु भाषा का क्रमिक विकास मनुष्य के साथ ही गुम्फित रहता है। इसीलिए क्रांतियाँ भाषा के मूल स्वरूप को नहीं बदल सकी।

कला के माध्यमों की विवेचना में संगीत की कुछ अनोखी अवस्था है। संगीत का सहज माध्यम नाद है। पौराणिक विवेचना में नाद के दो भेद किये गये हैं। एक है– अनाहत नाद एवं दूसरा है आहत नाद। अनाहत नाद विश्व में ब्रम्ह की भाँति व्याप्त रहता है जिस नाद का कोई कारण नहीं, जिसका कोई परिणाम नहीं जो स्वयंभू है।

वहीं अनाहत नाद है। नाद की यह एक अलौकिक एवं अमूर्त व्याख्या है आहत नाद वह नाद है जो किसी भी प्रकार के संघर्षण (अथवा किसी भी प्रकार के आघात) के कारण उत्पन्न होता है। अलौकिक अस्तित्व में यही आहत नाद संगीत का माध्यम है। किन्तु हर प्रकार का आहत नाद संगीत नहीं है–ठीक उसी प्रकार जैसे हर बोला गया या लिखा गया शब्द साहित्य नहीं है। या गायन अथवा भाषा का उच्चारण वोकल कॉर्डस् के

संघर्षण अथवा पारस्परिक आघात का ही परिणाम है। अनेक प्रकार के आघात से ध्वनि अथवा नाद का जन्म होता है। किन्तु संगीत में प्रत्येक ध्वनि अथवा नाम को स्थान नहीं मिलता। जिस प्रकार भाषा में सार्थक शब्द–समूह को वाक्य कहते हैं। उसी प्रकार संगीतमय आहत नाद के उपयोग को ही संगीत का माध्यम माना जाता है।

'नाद ' की शारीरिक प्रक्रिया से ही वाणी अथवा संगीतात्मक ध्वनि का उद्‌भव होता है। इस दृष्टि से भाषा के वर्णों एवं संगीत के स्वरों का उत्स एक ही स्थान पर निश्चित होता है। तब यह प्रश्न महत्वपूर्ण बन जाता है कि भाषा के वर्ण एवं संगीत के स्वरों में क्या फर्क है? हम अपने अनुभव से यह तो भली प्रकार जानते हैं कि दैनन्दिन जिस वाणी के सहारे हम वार्तालाप करते हैं–वह संगीत नहीं है। और जिस तरह हम गाते हैं वह वार्तालाप की भाषा भी नहीं है। चाहे दोनों का उत्स नाद अथवा वाणी अथवा कंठ से उत्पन्न ध्वनि में ही क्यों न निहित हों।

काव्य एवं संगीत के माध्यम निकटतम होते हुए भी एक दूसरे से अन्ततः बहुत भिन्न हैं। भाषा के वर्ण एवं संगीत के स्वर, दोनों की स्वरूप प्रवृत्ति के अपने–अपने नियम एवं वस्तु–तथ्य हैं। वर्ण से शब्द, शब्द से पद एवं पद से वाक्य का निर्माण होता है। शब्द तो तभी सार्थक है, जब तक वह सामाजिक रूप से किसी निश्चित अर्थ का बोध कराता है। शब्द एवं अर्थ का नित्य संबंध है साथ ही शब्द एवं अर्थ के नित्य संबंध के पीछे सामाजिक मान्यता एवं बोध का तात्विक महत्व कभी भी क्षीण नहीं होता। यही तथ्य पद एवं वाक्यों के लिए भी सत्य है। काव्य की भाषा का यह विवेचन ज्यों का त्यों अथवा सांगोपांग रूप से संगीत पर लागू नहीं किया जा सकता। भाषा के वर्ण एवं संगीत के स्वरों में एक सादृश्यता है अथवा सामानता सी है। वर्णों के संयोग से शब्द बन जाता है जो किसी न किसी सामाजिक अर्थ का बोधक होता है। किन्तु स्वरों से संगीत का 'शब्द' नहीं बनता, जो शब्द की ही भांति निश्चित अर्थ बोधक बन सके। संगीत के स्वरों से शब्द नहीं बनता उनका (स्वरों का) पारस्परिक एवं क्रमिक–संयोग एक विशिष्ट प्रकार की धुन का सृजन करता है, जो मनुष्य के मन में आनन्द की सृष्टि करता है। यही आनन्द संगीत कला का सौन्दर्य है।

वस्तुतः संगीत शब्दविहीन कला है। इसलिए शब्दों की विवेकजन्य व्याख्या से संगीत की अनुभूतिमय संपूर्णता का आनन्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। संगीत के स्वरों की भावाभिव्यंजना शब्दों से कहीं अधिक निगूढ़,

रहस्यपूर्ण और अमूर्त होती है। शब्दों के अर्थों द्वारा तो हम सुनिश्चित वस्तु, भाव अथवा संकेत को समझ लेते हैं, किन्तु संगीत के स्वरों में वह सुनिश्चितता कहां मिलती है ? शब्द का वह सार्थक वर्ण समूह है जो मनुष्य के मन के साथ ही साथ विवेक एवं स्मृति को जागृत करता है और सामाजिक अर्थ तक ले जाने की क्षमता रखता है। किन्तु संगीत के स्वरों का कलात्मक संयोग एक ऐसा संयोग है जो मनुष्य के मन की अनेकानेक भाव–स्थितियों का अदृश्य एवं अमूर्त संकेत मात्र प्रदान करता है। इसीलिये यह समझ लेना आवश्यक है कि काव्य एवं संगीत के माध्यमों की दो भिन्न सत्ताएं हैं।

किन्तु इन दोनों माध्यमों का उत्स एवं इतिहास परस्पर इस प्रकार गुंफित है कि आसानी से इनको पृथक–पृथक करके नहीं देखा जा सकता। संगीत की उद्भावना में गीत के बोल संगीत को काव्य अथवा भाषा के निकट ले जाते हैं। संगीत की अमूर्त स्वर–ध्वनियों को काव्य का आभरण पहिनाया जाता है। इन गीत के बोलों से संगीत को पृथक नहीं किया जा सकता। केवल वाद्य संगीत ही एक ऐसा शुद्ध संगीत है जिसमें भाषा का उपयोग नहीं किया जाता। साथ ही यह भी सत्य है कि संगीत में भाषात्मक काव्य का स्थान गौण एवं स्वर, श्रुति, मुर्च्छना, आलाप, तान, ताल , लय आदि का प्रमुख स्थान रहता है।

यहां सहज ही यह प्रश्न आता है कि क्या काव्य के माध्यमों में आज जैसा विभेद नहीं था। जो काव्य था वही संगीत था, और जो संगीत में व्यक्त होता था वही काव्य भी था। भाषा एवं स्वर एक ही तत्व से जन्म लेते थे। विद्वानों एवं वैज्ञानिकों के लिए यह एक गंभीरतम समस्या रही है कि संगीत और भाषा में क्या कारण रहा और क्या परिणाम थे। चार्ल्स डारविन ने जीव–विज्ञान की विकासमय वैज्ञानिक खोज के दौरान में यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि भाषा एवं संगीत का उद्गम प्राणीमात्र के जीवन में यौन आकर्षण एवं प्रजनन की क्रिया के पूर्व की अनुच्चारित वाणी में निहित रहा है। जीवन ने अपनी प्रारंभिक अवस्था में वोकल कॉर्डस का उपयोग इन्हीं क्रियाओं के दौरान में किया। धीरे–धीरे जीवों को अपने अस्तित्व के लिए भिन्न–भिन्न परिस्थतियों से निकलना पड़ा और वही आदिम वोकल कॉर्डस जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित होते रहे जो आगे चलकर वर्ण एवं स्वर जैसे निश्चित ध्वनियों को व्यक्त करने वाले विकसित यंत्र के रूप में बदल सके।

कुछ अन्य वैज्ञानिकों ने स्थापित किया कि पशु–पक्षियों की ध्वनियों के अनुकरण से संगीत का जन्म हुआ। भाषा वैज्ञानिकों ने भी कहा कि पशु–पक्षियों की ध्वनियों के ध्वन्यात्मक स्वरूपों से भी शब्दों का जन्म हुआ। कुछ जीव–शास्त्रीयों ने यहां तक कहा कि पशु–पक्षी भी गाते हैं। इस तथ्य की स्थापना में हमें केवल यही देखना है कि पक्षियों की अभिव्यक्त ध्वनियां अवश्य लय एवं स्वर में होने के कारण संगीत की अतिव्याप्त परिभाषा में आ जाती है। किन्तु पक्षियों एवं मनुष्यों के बीच वंशानुगत सम्बंध नहीं स्थापित किया जा सकता। अतः यह कहना ठीक नहीं होगा कि पक्षियों की ध्वनियां शारीरिक विकास की दृष्टि से मानवीय संगीत का कारण बन सकती है। मनुष्य के विकास की कहानी में यदि निकटतम कोई प्राणी है तो वे हैं–स्तनपायी प्राणी। किन्तु इन स्तनपायी प्राणियों की ध्वनियों में चीखना, गुर्राना, खखारना, दहाड़ना आदि तो है परन्तु इन ध्वनि–रूपों में संगीत का आभास नहीं मिलता।

एक अन्य मत है कि संगीत का उत्स भावावेगपूर्ण वाणी में निहित है। अंग्रेजी में इसे कहा गया है किन्तु संगीत के उद्‌गम की समस्या का संपूर्ण हल इस परिभाषा में भी नहीं मिलता। क्योंकि भाषा जैसे उच्चरित वाणी का अस्तित्व स्वयं मनुष्य जैसे प्राणी में बहुत विकसित अवस्था के पश्चात ही आना संभव हो सकता है। यदि हम आधुनिक अथवा मध्ययुग के संगीत को ऐतिहासिक अवस्था की दृष्टि से देखें तब तो भावावेगपूर्ण वाणी का परिभाषात्मक तथ्य काफी सही दिखाई देगा। परन्तु जब हम इसी परिभाषा को आदिम जीवन की परिस्थितियों पर घटाने का उपक्रम करेंगे तो अनेक तथ्य अस्पष्ट ही रह जायेंगे। संगीत का गहनतम संबंध हमारे शरीर की स्वयं–संचालित वृत्तियों संवेदनापूर्ण भाषा अथवा वाणी की सहजता के द्वारा संगीत को समझाना ठीक नहीं होगा।

इस प्रकार तो संगीत के उत्स की समस्या और भी विकट हो गई। और आज बीसवीं सदी में बैठे हम यों भी संगीत के उत्स की कल्पना किस प्रकार करें ?समय की जिस गहराई तक जाकर हम संगीत के उत्स की आधारभूत कल्पना की खोज करना चाहते हैं– उसे उस समय का कोई भी ध्वन्यात्मक ऐतिहासिक अवशेष तो हमें मिलता नहीं। चित्र कला के अनेक अवशेष हैं, पाषाण, ताम्र, या लौह युग के हथियार, बर्तन या मकान आज भी शेष हैं जिनके सहारे इतिहास की एक–एक इंट जोड़ी जाती है। किन्तु इतिहास के उस अनजाने काल में जो कुछ गाया गया वह तो आकाश की

असंख्य ध्वनियों में गूंज कर अनाहत नाद बन गया। उसका क्या लेखा–जोखा रहता ? इसीलिये संगीत के इतिहास को बनाने वाले वैज्ञानिकों को सबसे पहले शरीर–विज्ञान के सहारे वाणी प्रक्रिया की ओर जाना पड़ा है। कंठ के द्वारा जो वाणी उत्पन्न होती है उस वाणी का शारीरिक कारण क्या है ?साथ ही विद्वानों को ध्वनि के भौतिक विज्ञान का आधार भी लेना पड़ा। ध्वनि के वैज्ञानिकों ने विवेचन के द्वारा यह समझने का प्रयत्न किया कि विशिष्ट ध्वनियों में कितनी तरंगे हैं। और उनका स्वरोत्पत्ति से क्या सम्बन्ध है। विभिन्न ध्वनियों का संगीतिक प्रयोग कब और किस अवस्था में होना सम्भव हो सकता है ? इस प्रकार संगीत के इतिहासों को एक ओर शरीर शास्त्र एवं भौतिक विज्ञान की ओर मुड़ना पड़ा तो दूसरी तरफ उन्हें आदिम कबीलों के संगीत को जानने की आवश्यकता अनुभव हुई। जिनमें मनुष्य आज भी आदिम सामाजिक सम्बन्धों के बीच में संगीत का उपयोग व उपभोग कर रहा है। वस्तुतः संगीत के उत्स की समस्या का व्यावहारिक निदान आदिम कबीलों के संगीत में मिलने की संभावना है। संगीत की इस समस्या ने संगीत के इतिहास को समाज शास्त्र एवं नृतत्वशास्त्र से जोड़ दिया है।

आदिम कबीलों के संगीत के अध्ययन के प्रयत्न पिछली शताब्दी से प्रारंभ हुए। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप नृतत्वशास्त्रियों ने एक निर्णय निकाला कि आदिम कबीले सरलता से अपनी सांगीतिक विशेषताओं को नहीं छोड़ते। संस्कृति एवं सभ्यता के विकास के दौरान में अनेक आदिम सामाजिक कबीलों ने अपने से उन्नत जातियों के विकसित औजार और उन्नत हथियारों के एवज में अपने अविकसित औजार और अनुन्नत हथियार छोड़ दिये। आर्थिक उत्पादन के साधनों में भी अन्य उन्नत कबीलों या जातियों के शब्दों, वाक्यविन्यासों एवं तथ्यों का प्रवेश भी हुआ। किन्तु उनके व्यवस्थित सामाजिक 'आदिम' ढांचे में संगीतिक एवं नृत्य संबंधी परिवर्तन नहीं हुए। क्योंकि आदिम कबीलों की सांस्कृतिक एकांतिकता मुख्यतः संगीत एवं नृत्य की सामाजिक सद्भावना के कारण ही जीवित रह सकती थी। यहां समझ लेना ठीक होगा कि आदिम संगीत पर परिवर्तन अथवा प्रभाव नहीं पड़ने के तथ्य को 'एब्सोल्यूट' न समझा जाये। इसे अन्य प्रभावों एवं परिवर्तनों का सापेक्षिक नियम मानना ही उचित हो सकता है। इसीलिए आदिम कबीले अपने विशिष्ट सांगीतिक प्रयोगों को आज तक जीवित रख सके।

आज के अत्यंत विकसित वैज्ञानिक युग में भी अनेक गिरी–कन्दराओं और घने जंगलों की शरण में आदिम कबीले अपने सामाजिक सम्बन्धों के बीच में जीवन यापन कर रहे हैं। इन सभी कबीलों की अपनी विशेषताएं, अपने स्वाभाव, अपने सामाजिक नियम, अपने आर्थिक सम्बन्ध, अपने विश्वास एवं पौराणिक धारणायें आदि हैं। एक बात सभी आदिम कबीलों के लिए समान रूप से लागू होती है कि सम्पूर्ण कबीला सम्पूर्ण कबीले के लिए होता है। चाहे व्यवहारिक कार्य हो, चाहे सांस्कृतिक अभिव्यक्ति हो, चाहे आर्थिक उत्पादन हो, चाहे सामाजिक या धार्मिक विश्वासों का अनुष्ठान हो– सभी कार्यों को कबीले के सभी सदस्य करते हैं और उनके प्रयोजन को समझते हैं। ठीक वैसे ही जैसे पशु–समुदाय अपनी प्रत्येक इकाई की अविकसित भाव स्थितियों को समझा करता है। यही स्थिति आदिम कबीलों के संगीत पर ज्यों की त्यों लागू होती है। कबीलों के लिए संगीत एक सामुदायिक और सामूहिक अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह संगीत कबीले की आशा–आकांक्षा, प्रेम–भय, हर्ष–विषाद, उत्सव–अराधना, रीति–रिवाज एवं विश्वास– धारणाओं के सामाजिक संगठन की अभिव्यंजना है। यह संगीत व्यक्ति की व्यक्तिक प्रतिभा एवं अभ्यास का परिणाम नहीं, अपितु सामाजिक कला की उद्‌भावना है। इस प्रकार का गाना सारे समाज के लिए है। जिसमें सभी लोग भाग लेते हैं और सभी उनसे उद्‌भूत सांकेतिक अर्थों को समझते हैं।

आदिम कबीले धार्मिक अनुष्ठान, जादू–टोना के विश्वास व मंत्र, देवी–देवताओं की पूजा, बीमारियों की चिकित्सा एवं विविध त्यौहारों के अवसर पर संगीत का उपयोग करते हैं अर्थात मन्त्रोचार की उर्ध्व वाणी में कुछ व्यक्त करते हैं ऐसे उच्चारणों के समय एक से तीन स्वरों का उपयोग होता है। कुछ कबीलों के संगीत का स्वरूप अरोहात्मक है तो कुछ का क्रम अवरोहात्मक है। इनके सामूहिक गीतों में तीन से पांच स्वरों का प्राधान्य रहता है। सभी स्वर क्रमानुसार लगाते हैं। एक स्वर को छोड़कर अन्य स्वर पर नहीं जाते। कुछ कबीलों का संगीत लयबद्ध है। किन्तु साथ ही कुछ कबीले लय की चिन्ता नहीं करते। गीत या अवसर के भावोन्मेष की दृष्टि से जोर से चिल्लाना, चित्कार करना, अनोखी ध्वनियां उत्पन्न करना, एक सहज प्रक्रिया है। इन आदिम गीतों में सार्थक शब्दों एवं निरर्थक ध्वनियों का जाल सा बिछा रहता है।

आदिम संगीत के अध्ययन से तीन सांगीतिक निर्णय मिलते हैं पहिला–सामूहिक जीवन से संगीत की प्रेरणा ग्रहण की जाती है। दूसरा–संगीत में शब्द एवं स्वर दोनों का सामंजस्यपूर्ण प्रयोग रहता है और शब्दों का गठन गतिमय और संगीतमय होता है एवं तीसरा–अधिकतर आदिम कबीलों में पांच स्वरों का प्रयोग भी होता है। इन निर्णयों से सहज ही एक विशिष्ट नियम की स्थापना की जा सकती है कि आदिम जीवन में संगीत का न शास्त्रीय स्वरूप होता है और न लोक स्वरूप। यहां संगीत केवल संगीत जिसमें शब्द एवं स्वर, काव्य और संगीत, उच्चरित एवं अनुच्चरित वाणी का सूक्ष्म भेद नहीं होता। यह विभेद सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के साथ ही आता है। प्रारंभिक अवस्था में गाने के स्वर और भाषा के शब्द एक दूसरे से एकदम घुले–मिले और संबंद्ध थे। सार्थक शब्दों में गेयता और संगीत के स्वरों में भाषात्मक सार्थकता थी। यदि हम काव्य के प्रारंभिक इतिहास को देखें तो ज्ञात होगा कि मनुष्य के विकास के साथ कविता और छंद धीरे–धीरे शब्दों का अधिक से अधिक सहारा लेने लगे और संगीत आहत नाद की प्रबुद्ध कल्पना और स्वरों के सहारे विकसित होने लगा। एक ही बीज से उत्पन्न, एक ही उर्वर भूमि में अंकुरित इस बीज ने कुछ अद्‌भुत परिणाम दिखाया। एक ही बीज से दो छोटे–छोटे अंकुर प्रस्फुटित हुए। ये दोनों अंकुर एक दूसरे से भिन्न थे। धरती वही, बीज वही, लेकिन अंकुरों के स्वरूप दो। यही दो अंकुर कालान्तर में दो विशाल वृक्षों में परिणित हो गये। दोनों पत्ते भिन्न, दोनों के पुष्प भिन्न और यहां तक कि दोनों के बीज भी भिन्न। संगीत के बीज से संगीत जन्म लेने लगा और काव्य के बीज से काव्य। किन्तु आज के इन भिन्न बीजों का इतिहास एक ही बीज में छिपा है और वह बीज है–मनुष्य की वाणी।

वाणी का एक स्वरूप उच्चरित ध्वनि का सहारा लेकर वर्ण, शब्द, पद, वाक्य, भाषा एवं काव्य के रूप में और दूसरा स्वरूप अनुच्चरित ध्वनि का आधार लेकर स्वर, श्रुति, मुर्च्छना, गायन, वादन और संगीत के रूप में विकसित हुआ। कालान्तर में दोनों के माध्यम एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न एवं मनुष्य के विभिन्न भावात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के दो सबल,सार्थक एवं सौन्दर्यपूर्ण साधन बन गये।

मनुष्य के विकास की कहानी में अनेक अद्‌भुत तथ्य समाये हुए हैं। अनेक तथ्यों के लिए हमें मजबूर होकर यही कहना पड़ता है कि यह तो प्रकृति का अलौकिक कार्य व्यापार है। न मालूम कौन सा विवेक, न मालूम

कौन सा अनुभव न मालूम कौन सा ज्ञान ऐसे आश्चर्यजनक तथ्यों की निर्मिति में सहायक हुआ ? ऐसे कुछ विस्मयकारी तथ्यों में काव्य, संगीत एवं गणित के अमूर्त एवं सांकेतिक संकेत–निर्णयों को लिया जा सकता है। यह कहना असंभव है कि मनुष्य की सभ्यता के विकास में किस समय गणित के एक से शून्य तक के अंकों की औसत धारणा बनी। न मालूम कब और कैसे उच्चरित वाणी की संख्यातीत ध्वनियों में से स्वर एवं व्यंजन जैसी व्यवस्थित वर्णमाल बनी ? और उसी प्रकार न मालूम किस विवेकपूर्ण संगति से सात स्वरों एवं बाईस श्रुतियों की औसत ध्वन्यात्मक कल्पना का सृजन किया गया। बीसवीं सदी का मनुष्य आज अपनी वैज्ञानिक उन्नति का चाहे कितना ही दंभ क्यों न भर लें–एक बात तो निश्चित ही है कि वह गणित के अंक, भाषा के स्वर व वर्ण एवं संगीत के स्वर–श्रुतियों की स्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन नहीं कर सका। यह वैज्ञानिक आंकड़े या संख्या, ध्वनि और नाद के अमूर्त संकेत जिस ऐतिहासिक काल–क्रम, सामाजिक अनुभूतिमय आवश्यकता, विवेकपूर्ण सामंजस्य और औसत सच्चाई को समझने की अनोखी सूझबूझ से निर्मित हो गये–वे आज भी अपने आप में अविभाजित, अविच्छेद और अलौकिक सत्ता का आभास देते हैं। यह सही है कि आज इन औसत तथ्यों के जानने, समझने और उपयोग करने की क्षमता में बहुत कुछ फर्क आ गया किन्तु उनका औसत स्वरूप बहुत कुछ ज्यों का त्यों बना हुआ है। गणित की समस्यायें बदल गई। कल तक जो गणित के अंक मनुष्य की अंगुलियों की रेखाओं पर रोजमर्रा के काम को संभव बनाते थे–वे ही अंक बीजगणित, रेखा गणित और अंकगणित की जटिलताओं में जाकर विश्व की अनेकानेक गुत्थियों को सुलझाने वाले तथ्य बन गये। भाषाएं बदल गई–विकसित हो गई। किन्तु क्या वर्णमाला बदली? संगीत के स्वरों की कला न मालूम आज कितनी सूक्ष्मताओं को व्यक्त करने वाली सशक्त कला बन गई ? किन्तु क्या उसका स्वर सप्तक और श्रुतियों का स्वरूप बदला?नाद के उस औसत विभाजन की वैज्ञानिक खोज का आज भी ज्यों का त्यों महत्व कायम है। यह एक अद्‌भुत तथ्य है। अविकसित मनुष्य की वह कौन सी अचेतन मानसिक शक्ति थी–जो प्रकृति की असंख्यातीत नाद के प्रकारों को एक, दो, तीन, क, ख, ग और सा, रे, ग में बांध सकी? यह सही है कि गणित, भाषा और संगीत का अपना क्रमिक इतिहास है, किन्तु उस क्रमबद्ध विकास में उस मानसिक प्रक्रिया का कैसे अनुमान लगा सकते हैं जिसने अपने ज्ञान उषाकाल में इन औसत सत्यों का निर्णय कर लिया था?कि सही तो बुनियादी अंक है, ये ही वर्ण हैं ये ही स्वर हैं जो गणित, भाषा

और संगीत को युगों–युगों तक अनुरंजित कर सकेंगे। भावों को समझने की इस अद्‌भुत वैज्ञानिक खोज के लिए हमारे पास क्या उत्तर है? और आज तो यह स्थिति बन गई है कि जब संगीत, काव्य या गणित की गहरी समस्याओं में जाने का प्रयत्न करते हैं तो अनायास ही सभी विषय एक ही बिन्दु पर आ जाते हैं। गणित के ज्ञान के बिना संगीत शास्त्र मानों समझा ही नहीं जा सकता। काव्य के छन्द–शास्त्र का मूलाधार गणित में ही है। तो दूसरी ओर गणित को सीखने–समझने में काव्य की भाषा और संगीत का ज्ञान मौलिक सूझबूझ के लिए पर्याप्त सहायता प्रदान करता है।

जीवन का क्रम चलता रहा। कुछ आधारभूत सत्य और औसत अंक परिवर्तन में निहित है। अंकों, वर्णों एवं स्वरों के स्थायित्व को नित्य नहीं माना जा सकता। तब एक नियम की सहज ही स्थापना की जा सकती है और यह नियम होगा–संसार के जितने भी अमूर्त एवं औसत तथ्य हैं वे आसानी से नहीं बदलते। जो तथ्य जितने ही सूक्ष्म हैं–उन्हें बदलने में या विकसित होने में उतना ही समय लगता है। इसी नियम का दूसरा पक्ष है– जो वस्तु जितनी स्थूल है वह उतनी ही शीघ्रता से बदल जाती है। इसी सहज नियम के कारण ही विश्व की विभिन्न जातियों के हथियार, उत्पादन के साधन, कामकाज के औजार, वेश–भूषा, रहन–सहन, रीति–रिवाज आदि जल्दी–जल्दी बदल जाते हैं। किन्तु इनके विपरीत संस्कृति एवं कला के माध्यमों में उतना परिवर्तन नहीं आता। यदि हम इसी नियम को कलाओं के माध्यमों पर भी घटित करें तो ज्ञात होगा कि भवन, मूर्ति एवं चित्रकला के माध्यम काव्य एवं संगीत कला के माध्यम से कुछ अधिक स्थूल है। अतः इन कलाओं के स्वरूप में तीव्र गति से परिर्वतन आया है। वेदकालीन एवं आज की भवन–निर्माण कला में आकाश–पाताल का भेद है। इसी क्रम से यदि हम नियम को विभिन्न कलाओं पर घटाते जायें तो ज्ञात होगा कि संगीत कला का माध्यम काव्य से कहीं अधिक धीमी अनुभव होगी। इसी नियम का एक और भी परिणाम निकलता है कि कला जितनी सूक्ष्म है उसे आत्मसात करना, उसके आंतरिक स्वरूप को समझना और उसके माध्यम पर अधिकार पाना भी बहुत अभ्यास के बाद संभव है। अतः सूक्ष्म कला के सूक्ष्म माध्यमों को बदलने के लिए व्यक्ति और समाज को बहुत गहराई में जाना जरूरी है।

छत्तीसगढ़ी लोकनाटकों का समीकरण

छततीसगढ़ का लोक नाट्य कला का वह स्वरूप है जो किसी स्थिति, घटना एवं व्यक्ति की अनुकृति के रूप में रंगमंच पर दर्शक समुदाय के समक्ष प्रस्तुत होने वाले वास्तविक कार्यकलाप नाट्य में शुमार नहीं होते, भले ही वे किसी चौराहे पर कुतुहलवश एकत्रित हुए किसी दर्शक समुदाय के समक्ष ही क्यों न घटित हुए हों ?उक्त दोनों ही प्रकार के व्यवहार एवं कार्य व्यवहार, दृश्य रूप होने से नाट्य नहीं है।

कभी–कभी कोई स्थिति में अनुकृतिमूलक होते हुए भी नाट्य की शर्ते पूरी नहीं करती। उदाहरण के रूप में नाट्य का कोई दृश्य प्रस्तुत होते हुए कभी–कभी पात्र भावातिरेक में अपना आपा खो बैठते हैं और यह भूल जाते हैं कि वे किसी की नकल कर रहे हैं। वे अपने मूल व्यक्तित्व को ऊपर ले आते हैं और अपनी स्वयं की समस्याओं के कारण अपने विवादी पात्र से उलझ पड़ते हैं, लड़ पड़ते हैं तथा एक दूसरे का खोपड़ा खोल देते हैं दर्शक समुदाय बिखर जाता है और उन्हें पात्रों को उलझाव से मुक्त कराना पड़ता है। कई नाट्य निर्देशक अपने पात्रों को यह आदेश देते हैं कि वे जो पार्ट करते हैं, उसमें उन्हें पूरी तरह घुलमिलकर तथा कथावस्तु को विशिष्ट स्थिति एवं चरित्र की गहराई में उतरकर एकात्मक हो जाना चाहिए। किसी हद तक आदेश सत्य होते हुए भी भ्रामक भी है। किसी कारण की स्थिति में अनेक पात्र रंगमंच पर रोते हुए देखे गये वे इतने भावातुर हो जाते हैं कि उनको रोकना चाहते हुए भी नहीं रूकता और आगे आने वाली वांछित भावस्थिति तक पहुंचने में उनको, बड़ी कठिनाई महसूस होती है। कभी–कभी वह रो पड़ना प्रभावी हो सकता है और संभव है दर्शक समुदाय से उसे प्रशंसात्मक तालियां भी मिले, परन्तु वह नाट्य परम्परा एवं विशिष्ट नाट्य स्थिति में बिल्कुल विरूध्द है। होता क्या है कि ऐसी अवस्था में पात्र अपने जीवन की वास्तविक अनुभूत स्थिति में पहुंच जाते हैं, अपना आपा भूल जाते हैं और नाट्यजन्य अनुकृतिमूलक बोध से नितान्त शून्य हो जाते हैं। ऐसे पात्र सफल अभिनेता नहीं होते और वे नाट्य के लिए बिल्कुल निकम्मे समझे जाते हैं। अतः नाट्य निर्देशन के समय पात्रों को यह आदेश देना कि तुम भिखारी की भूमिका अदा करते समय भिखारी ही बन जाओ, अमीरी की भूमिका करते अमीर की आत्मा में प्रवेश, बिल्कुल गलत है। पात्रों को निर्देश यह मिलना चाहिए कि तुम्हें भिखारी की भूमिका अदा करनी है, परन्तु

भिखारी नहीं बनना है, भिखारी की दरिद्रता और भूख तुम्हारे आचरण में प्रतीत होना चाहिए असल बनकर नहीं नकल बनकर तुम्हें जब चीखना, चिल्लाना है तो ऊपर से चीखना, चिल्लाना चाहिए, चाहे तुम्हारे अंदर का मन रो ही क्यों न रहा हो, तुम्हें किसी के प्रति घृणा एवं गुस्सा बतलाते समय का उसका उपक्रम करना चाहिए, चाहे अंदर का मन खुशी, कारूण्य और दया से ओतप्रोत ही क्यों न हो जाय। यही कारण है कि दर्शक समुदाय इन अनुकृतिमूलक स्थितियों से प्रभावित होता है और उनमें असलियत का लेशमात्र भी आभास हो जाने पर वह उनके प्रति उदासीन हो जाता है। दर्शक समुदाय अपने जीवन का वास्तविक क्रियाकलाप छोड़कर रंगमंच में आता है और वह असल को नकल देखने में ही आनंद का अनुभव करता है।

वर्तमान समय फिल्मी दुनिया का दौर है। इसी कड़ी में एक नाट्य निर्देशक ने, जो स्वयं नायक की भूमिका अदा कर रहा था, अपने वास्तविक जीवन की किसी एक प्रेमिका को ही नायिका के रोल में प्रस्तुत किया। वे दोनों जब रंगमंच पर आये और नाटकीय क्रियाकलापों में निरत हुए तो दर्शकों को यह अनुमान लगाने में तनिक भी देर नहीं लगी कि उनके क्रियाकलाप, हावभाव आदि यद्यपि प्रेमाचार के मर्म से परिपूर्ण अवश्य हैं, परन्तु दर्शक समुदाय उनसे तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ। उन्हें लगा कि नाट्याचार की दर्शक–प्रदर्शक पारस्परिक संवेदना में कहीं न कहीं मृदुभाषिणी तथा सुन्दर बदनी होते हुए भी दर्शकों के मन को नहीं भा रही है।

संवेदनात्मक तत्व के लिए अनुकृति का होना –

नाट्य में यदि कोई संवेदनात्मक तत्व होता है तो वह अनुकृति का ही होता है, वास्तविकता का नहीं। वस्तुस्थितियां, वार्तालाप, वाचन, कथन, वस्तु, पात्र, चरित्र क्रियाकलाप आदि सब झूठे ही होने लाजमी है। आनंद का रंग झूठ से ही प्रस्फुटित होता है। वह झूठ कला का रूप तभी ग्रहण करता है जब वह असल का भ्रम पैदा करे, तभी रस तथा आनंद की निष्पत्ति होती है। उक्त नाट्य का नायक और उसकी नायिका बनी महिला उस झूठ को प्रदर्शित करने में नितांत असफल थे वे अपने वास्तविक जीवन के प्रेमाचार को झूठ में नहीं छिपा सके, इसलिए वे अप्रभावी रहे तथा दर्शक समुदाय में कुछ देर के लिए विद्रोह खड़ा हो गया। किसी भी वास्तविक नाटक में कोई भी नायिका जब झूठ का सही नाटक करती है तभी वह सबके दिल पर राज करती है। उस समय वह केवल रंगमंच वाले नायक की नायिका नहीं रहती। वह सबकी नायिका होती है। जब वह नायिका इस उत्तरदायित्व को नहीं

निभा सकती तो दर्शक समुदाय इस पक्षपात को बर्दाश्त नहीं करता और विद्रोह कर बैठता है।

असल में उस नाटक की नायिका वह महिला कभी ना बनती थी उस भूमिका को अदा करने वाला एक सोलह वर्षीय लड़का था। वह सबके मन को भाता था और इस भूमिका में उसी का कमाल सर्वविदित था। लड़का होने के नाते किसी के प्रति अनुकृति मूलक संबंध होने के अलावा अन्य किसी प्रकार के वास्तविक संबंध की आशंका हो ही नहीं सकती थी। प्रतिफल नारी सुलभ भावों की अनुकृति प्रस्तुत करना उसके लिए लाजमी था। वाणी में, हावभावों में, अंग भंगिमाओं, लहजों, नाज, नखरों, मान मनुहारों आदि सभी में नाट्य तत्वों के अनुरूप नकल को असल का रूप देने के अलावा उसे और कुछ नहीं करना पड़ता था। इसी कारण यह लड़का नायिका की भूमिका में सदा ही सफल होता था। नकल एवं अनुकृति का यह सर्वाधिक प्रबल तत्व जिस नाटक में परिचालित नहीं होता वह अत्यंत सफल नाटक होता है।

नाटक की कथा वस्तु–

नाटक का दूसरा प्रमुख तत्व है कथावस्तु। कथावस्तु के बिना कोई भी नाटक सार्थक ही नहीं संभव भी नहीं होता। कथावस्तु के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। एक वह कथावस्तु है जो जीवन के सर्वांगीण पक्ष को स्पर्श करती है तथा दूसरी वह जो केवल उसके अंश मात्र को। आंशिक वस्तु एकांकी नाटकों के लिए उपयुक्त समझी गयी है और सर्वांगीण कथावस्तु पूर्णांकी नाटकों के लिए। नाट्य शास्त्रों में वस्तु आदि के लिए जो विवरण उपलब्ध है उसके अनुसार नाटकों की रचना इस युग में कल्पनातीत है वैसे नाटक आज के रंगमंच पर खेलना संभव भी नहीं है और न ही उसके योग्य अनुकूल वातावरण एवं पृष्ठभूमि ही है। पारसी शैली के नाटकों में कथावस्तु पर सर्वाधिक जोर था और उसमें चमत्कारिक एवं कुतुहल वर्धक पक्षों को उभारने की प्रवृत्ति थी। नाटक का यह पक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाता था तथा नाटक के अन्य तत्व इसी से शासित होते थे। मानवी चरित्रों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्यवहारों को चित्रित करने की चेष्टा उनमें नहीं के बराबर थी। ऊपर–ऊपर के सतही भावों को व्यक्त करके दर्शकों को उभारने की चेष्टा सर्वाधिक प्रबल थी, वस्तु की कुतुहल को छिपाए रखकर उसे विस्फोट के रूप में प्रकट करने की बात सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझी जाती थी। विविध पात्र भी इसी चमत्कारिक शैली में प्रकट होते थे और किस समय में क्या व्यवहार करेंगे इसका पता किसी को नहीं रहता था। व्यवहार

प्रकिया और प्रतिकियाओं को मनोवैज्ञानिक आधार का ध्यान नहीं रखा जाता था। इन नाटकों में सर्वाधिक आकर्षण की सामग्री होती थी, उनके संवादों की प्रभावशीलता, मार्मिकता एवं उनकी तीखी आघातें। दूसरी महत्वपूर्ण बात थी उनका मनोरंजनात्मक पक्ष उसमें किसी प्रकार की दुर्बलता कभी भी क्षम्य नहीं होती थी। वह मनोरंजन नाटक में सम्मिलित प्रहसन, गीत, नृत्य आदि से तो उपलब्ध होता ही था, साथ ही अनेक नाटक ऐसे भी थे जिनमें इन तत्वों की न्यूनता होते हुए भी अभिनय, कथावस्तु एवं कथोपकथन के चमत्कारिक प्रयोग के कारण पर्याप्त मात्रा में मनोरंजन उपलब्ध होता था।

छत्तीसगढ़ में दर्शक दीर्घा और जनमानस को प्रभावित करने वाले नाटक है 'चरणदास चोर', 'बहादुर कलारिन', 'मोर नांव दमाद गांव के नांव ससुरार' इसका ताजा उदाहरण है। इन नाटकों में कथावस्तु से अलग–अलग कोई प्रहसन आदि नहीं थे और प्रहसन के जो अंश वस्तु में हास्यविनोदी पात्रों में निहित थे उनका स्तर भी नीचा नहीं था। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि इन नाटकों में मनोरंजन पक्ष को उभारने में नाटक की कथावस्तु, कथोपकथन एवं चरित्र–चित्रण आदि सभी एकजुट होकर सहायक होते थे। इस नाटकों में समाज के लिए दिशा निर्देश की बात भी होती थी, फर्क केवल इतना ही था कि ये नाटक अब आधुनिक नाट्यकर्मियों को नहीं रूचते और वास्तव में रूचे भी क्यों, क्योंकि जमाना भी इतना आगे बढ़ गया। मनोरंजन के स्तर एवं उनके प्रकार भी बदल गये, फिल्में रंगमंच के मुकाबले में खड़ी हो गई।

वर्तमान नाटक –

वर्तमान नाटक अब मनोरंजनात्मक पक्ष को अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझता जबकि भारतीय मध्यवर्तीय नाटक इसी लक्ष्य से प्रादुर्भूत हुआ। उस समय मनोरंजन के कोई दूसरे साधन नहीं थे आज तो मनोरंजन के साधनों की कोई कमी नहीं। फिल्म के अलावा नाचगान, नृत्यनाट्य, खेल तमाशे भी उभर आये। अब नाटक, मनोरंजन का साधन नहीं रहा। आज का नाटक जीवन की समीक्षा के रूप में सामने आया। वह वस्तु को प्रधानता नहीं देता। रंगमंच की भी कोई रूढ़ियां उसने तोड़ दी। रंगसज्जा का भी कोई महत्व नहीं रहा। कथोपकथन को अब मानस की गहरी परतें खोलने के लक्ष्य को पूरा करना चाहिए। वह भावगम्य होने की अपेक्षा बुध्दिगम्य अधिक हो गया। नाटक का अनुकृतिमूलक तत्व भी आज के नाटक में कमजोर पड़ रहा है। अभिनेता ने अनुकृति अप्रेक्षित अवश्य है, परंतु वह अनुकृति इतनी बोधक एवं विचारानुगुंफित हो गई है कि वास्तविक मानवी कियाकलाप की अनुकृति

हूबहू ढंग से प्रगट न होकर केवल प्रतीकात्मक एवं दार्शनिक ढंग से प्रगट होने लगी है। किसी विशिष्ट प्रसंग में प्रकट हुई भावात्मक प्रक्रियाएं, जो स्वाभाविक रूप से मुखाकृति एवं अन्य शारीरिक अवयवों से व्यक्ति होती है, इतनी सूक्ष्माति सूक्ष्म होती है कि उनके प्रभाव केवल अभिनेताओं तक ही सीमित रहते हैं। दर्शकों तक स्पन्दित होने के लिए इन प्रक्रियाओं में तनिक अतिरंजना की आवश्यकता है, क्योंकि नाटक की नाटकीयता असल से तनिक अलग किये बिना नहीं उभरेगी। यही कारण है कि मध्यकालिन पारसी एवं हिन्दी थियेटर के कुछ पुराने प्रयोगियों ने उन प्रक्रियाओं की अवयवी अतिरंजनाओं को प्रधानता दी थी, जिससे दर्शक समुदाय उन सूक्ष्म अभिव्यक्तियों को आत्मसात करने में सफल हुआ। परन्तु आधुनिक प्रयोगात्मक नाटक, अभिनेता की मानसिक तंत्रियों को व्यक्त करने में इतना अधिक गुंफित हो गया है कि रंगमंच के क्रियाकलाप, जो दर्शकों की आँखों को प्रतिपल क्रियान्वित रखते थे, अपने आप में सिमट से गये हैं।

इन नाटकों में वस्तु के प्रति उदासीनता और घटनाओं की सिकुड़न इतनी अधिक हो गई है कि वे केवल अभिनेता और उनके मानसिक उहाफोह ही प्रधानता प्राप्त करने लगे हैं। इसके साथ ही मानसिक संघर्ष, सामाजिक कटाक्ष तथा मानवीय व्यवहार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया प्रक्रियाओं की ओर इतना झुकाव परिलक्षित हो रहा है कि साधारण दर्शक के लिए ये नाटक बड़े दुष्ट हो गए हैं। नाटक की यह असाधारण प्रक्रिया हमारे देश में इस हद तक हावी हो गई है कि कुशल नाट्य लेखक भी उलझन में पड़ गए हैं। कभी–कभी इन नाटकों को पूरे तीन घंटे तक भयंकर मानसिक दबाव के साथ देखने पर ही सिवाय सिरदर्द के और कुछ हाथ नहीं लगता । प्रयोग, पुरातन, नाट्य प्रयोगों से बिल्कुल अलग थलग पड़ गया है। इस प्रयोग की जड़ें न तो पुरातन संस्कृत नाट्य परंपरा में है और न छत्तीसगढ़ की अन्य लोकनाट्य विधाओं में ऐसा लगता है कि वह पश्चिम की आधुनिकतम नाट्य परंपरा से अपनी प्रेरणा ग्रहण कर रहा है।

लोक नाटकों का उत्कर्ष –

इन आधुनिकतम नाट्य प्रयोगियों में से कुछ का यह कहना है कि वे अपनी समस्त प्रेरणा लोकनाट्यों से ग्रहण करते हैं। यह बात कितनी भ्रामक है यह वे ही जान सकते हैं जो लोकनाट्य विशेषज्ञ हैं। ये प्रयोगात्मक नाटक अधिकांश वस्तु के प्रति उदासीन होते हैं। केवल बाना बुनते हैं। ऐसे नाटकों के पात्र अत्यंत, अस्पष्ट, उनका लक्ष्य दुर्बल वेग अत्यंत शिथिल होते हैं कि

वे लोकनाट्य के कहीं नजदीक नहीं आते हैं। कभी–कभी नाटकों में जो विशिष्ट भावातिरेक की स्थिति पैदा की जाती है वह इतनी अल्पजीवी एवं तात्कालिक होती है कि उनका प्रभाव अधिक समय तक नहीं रहता। ऐसे नाटकों के कथोपकथन काव्यात्मक होते हुए भी अत्यंत अन्तर्मुखी होते हैं। उनमें पात्रों का कहीं निखार नजर नहीं आता, उनके चरित्र बराबर अस्पष्ट बने रहते हैं, दर्शकों पर जो कुल प्रभाव पड़ता है, वह किसी विशिष्ट चरित्र के उत्कर्ष अपकर्ष का नहीं। नाटक का प्रमुख पात्र या नायक यदि कोई होता भी है तो वह नाटक के मूल स्त्रोत से कटा हुआ रहता है। उसके चरित्र का कोई विशेष रंग नहीं निखरता। उसका कोई विलग व्यक्तित्व की छाप नहीं छोड़ते वे अधिकांश किन्हीं विचार धाराओं के प्रतीक मात्र होते हैं। पात्र, वस्तु, चरित्र–चित्रण, अभिनय, रंग–मंचीय व्यवस्था मंचशिल्प आदि नाट्य तत्वों के उभारे बिना ही नाटक व बाना पहिन लेते हैं जो केवल कुछ विशिष्ट दर्शकों के लिए एक ऐसे रूपक की तरह पेश होते हैं जिसका कोई विशेष स्थायित्व नहीं होता। जानबूझकर मैं अपने इस अध्ययन में किसी विशिष्ट नाटक का हवाला नहीं देना चाहता, परन्तु फिर उनके विभिन्न प्रकारों का अंदाज यहां अवएव हो जायेगा। आधुनिक नाटक के नाम पर कुछ नाटक ऐसे भी किये गये हैं, जो वस्तु की एकांगिकता, प्रसंग की एकरूपता, विषय की सरलता, पात्रों की न्यूनता, स्थल, स्थान एवं समय की सिकुड़न को देखते हुए तो विशुद्ध एकांकी है परन्तु उनको पूर्णांकी नाटक का दर्जा दे दिया गया है। रंगकर्मियों ने अपना शिल्प कौशलता चलाने के लिए इस प्रकार के सरल एवं संक्षिप्त प्रसंग को पूरे तीन घंटे तक फैलाकर मनोभावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्रियाओं के बीच गुजरने की आजादी दी है, जिससे ऐसा लगता है कि वे मनोभाव ही नाट्य पात्र हैं। लंबी अवधि तक पात्र एक ही स्थिति में बने रहकर अपने मनोभावों का उतार–चढ़ाव के साथ अपना करिश्मा अवश्य दिखाते हैं। काव्यात्मक संभाषणों की झड़ी लगती है, परन्तु प्रसंग वही का वही बना रहता है। बड़ी झुंझलाहट के बाद स्थिति रेंगती हुई आगे बढ़ती है, फिर नई मनः स्थितियाँ पैदा होती है, रेंगते हुए नए पात्र भी आते हैं, परन्तु क्रियाकलापहीन वे भी मानसिक कलापों में ही उलझ पाते हैं। नाटक का उत्कर्ष, चरित्र का चमत्कार अपकर्ष वस्तुस्थितियों का वैविध्य, घटनाओं का उलटफेर एवं नाटक के निकर्ष प्रायः अनिश्चित एवं गुंफित ही रहती है। समस्त नाटक में काव्य की सी कमनीयता का आस्वाद अवश्य मिल जाता है, परन्तु ऐसा नहीं आनंद एवं भावनाओं से लगता है कि आपने कोई नाटक देखा है।

छत्तीसगढ़ी के रंगमंचीय नाटक –

नटक लिखने, पढ़ने और प्रस्तुत करने की चीज है। नाटक लिख लेने व प्रस्तुत करने के बाद उसका उपन्यास की तरह भी सीधा प्रभाव पाठक पर भी पड़ता है। यह बात मानने की चीज है कि हिन्दी नाटकों के बाद भी अच्छा छत्तीसगढ़ी नाटक स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी लिखा गया था। स्वतंत्रता पुरातन नाट्य प्रयोगों से बिल्कुल अलग–थलग पड़ गया है। इस प्रयोग की जड़ें न तो पुरातन संस्कृत नाट्य परम्परा प्राप्ति के पूर्व इस दिशा में कुछ प्रयास अवश्य हुए हैं लेकिन स्वातंत्रयोत्तर छत्तीसगढ़ी नाट्य साहित्य प्रकाशन व प्रचार माध्यम प्रमाणित भी हुआ। स्वर्गीय हीरालाल काव्योपाध्याय प्रणीत ''छत्तीसगढ़ी व्याकरण'' (1880) में ग्रामीण जनों के वार्तालाप को संकलित किया गया जिसे प्रकाशित रूप में छत्तीसगढ़ी विशिष्ट नाटक का प्रारंभिक स्वरूप माना जा सकता है। ''हिन्दी मास्टर''(1905) में प्रकाशित एवं पं. लोचन प्रसाद पांडेय द्वारा लिखित ''कालिकाल'' नाट्क भी उल्लेखनीय है। रंगमंचीयता के आधार पर डॉ. खूबचंद बघेल के छत्तीसगढ़ी नाटक ''ऊँच अउ नीच'',''करम छड़हा'', ''लेड़गा सुजान'', ''जनरल सिंह'', (जनरैल सिंह), ''बेटवा बिरन'', ''किसान के करलई'', एवं डॉ. रामलाल कश्यप कृत – ''कृष्णार्जुन युध्द'', ''माटी के मोल'' उल्लेखनीय है। आगे के इस उपक्रम में श्री टिकेन्द्र टिकरिहा कृत – ''साहूकार से छुटकारा'', ''सर्वनाश'' (पौराणिक), लखनलाल गुप्त – ''बेटी के मंसूबा'', ''वर के खोज'' श्री रामकृष्ण अग्रवाल –''गंवई बर अंजोर'', योगेश शर्मा – ''भसकटइया के कांटा'' सुकलाल प्रसाद पांडेय – ''केकरा धरइया'', ''खीरा चोट्टा'', ''उपसहा दमाद बाबू'' और ''सीख देवइया'', को पर्याप्त लोकप्रियता मिली है। रंजनलाल पाठक – ''छत्तीसगढ़ गौरव'' भूषणलाल मिश्रा – ''रतिहा मदरसा'', प्यारेलाल गुप्त– ''दो सौत'', ''चिंगारी के फूल'' फकीर राम साहू– ''अंधेर जमाना'', धनंजय– ''पंच परमेश्वर'', नारायण लाल परमार – ''मतवार अउ दूसर एकांकी'', ''भूल सुधार'', मेहत्तर राम साहू– ''राजा बेटा'', ''मया के बंधना'', ''सब परे हे चक्कर मे'', चैतराम व्यास– ''दू पइसा के हाथी'' केयूर भूषण, नंदकिशोर तिवारी ''परेमा'' इस दिशा में महत्वपूर्ण कृति प्रमाणित हुई है। कपिल नाथ कश्यप– ''अंधियारी रात'', ''नवा बिहान'', ''गोहार'', ''गुरावट बिहाव'', ''पूजा के फूल'', ''किसान अउ भगवान'', ''पापी पेट'', ''मन के भरम'', ''दू मूठा चाउंर'',''ग्राम सुधार'', ''सुखी परिवार'', गजाधर प्रसाद रजक कृत– ''बांटा'' बाबूलाल सीरीया– ''दुर्लभ'', ''कृत'', ''महासती बिंदरामती'', ''बंगाली प्रसाद

कृत– ''गांधी अउ गंगा के देश गांव म'', डुमनलाल ध्रुव– ''भरम के भूत'', नवा सुरूज के अगुवानी'' आदि छत्तीसगढ़ी नाटक पांडुलिपि के रूप में अमूल्य धरोहर है। श्री परदेशी राम वर्मा कृत– ''मैं बइला नो हंव'', प्रकाशित एकांकी संग्रह हैं इस विधा को समृध्द करने में सर्वश्री– डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा, रामगोपाल कश्यप, पंडित द्वारिका प्रसाद तिवारी 'विप्र' भूषण लाल मिश्र, फकीर राम देवांगन चैतराम व्यास, डॉ. विजय कुमार सिन्हा, मेहत्तर राम साहू, डॉ. पीसी लाल यादव, माधीलाल यादव, डुमनलाल ध्रुव का योगदान उल्लेखनीय है।

छत्तीसगढ़ी नाटकों के क्षेत्र में अवश्य ही कुछ छत्तीसगढ़ी नाटक प्रायोगिक दृष्टि से सफल हुए हैं परन्तु अच्छा रंगमंच नहीं मिलने के कारण स्कूल, कालेज तथा रेडियो, टेलीविजन तक ही सीमित हो गये। इनमें निश्चित ही अच्छे नाटकों के गुण विद्यमान हैं। कुछ नवीन नाट्य लेखक पश्चिमी प्रभाव से छत्तीसगढ़ी में नवीन शैली के नाटक लिखने लगे हैं। अब छत्तीसगढ़ी नाटक भी आकाश में तारों की तरह चमकने लगे हैं। यत्र–तत्र वे ही नाटक खेले जाते हैं और उन्हीं की महिमा गायी जाती है। वे नाटक तंत्र की दृष्टी से नवीन अवश्य है और उन्होंने रूढ़ियों को तोड़कर नवीन दिशा अवश्य पकड़ी है परन्तु वे पूर्ण रूप से सफल नाटक हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कुछ तो ऐसे हैं, जो नवीन चित्रशैली की तरह केवल इम्प्रेशन एवं प्रतीकों के सहारे चलते हैं। ये ऐसे नाटक हैं जिनके लिए विशिष्ट दर्शक समाज की जरूरत होती है।

लोकनाट्य एक दृष्टि में –

छत्तीसगढ़ में आज जितने लोकनाट्य हैं या जितनी लोकनाट्य विधाएं हैं उतने आधुनिक नाट्य भी नहीं है। इनके पीछे सैकड़ों वर्ष की समृध्द परम्परा है। इन दिनों जो एक भ्रांति फैली है कि लोकनाट्यों का जन्म केवल 200 वर्ष पूर्व हुआ, गलत तथ्यों पर आधारित है। लोकनाट्य हम विविध अंचलों में देखते हैं उनमें से अधिकांश इतने बचकाने एवं प्राथमिक से लगते हैं कि हम अनायास ही उनके अल्पजीवी होने की कल्पना कर लेते हैं हमें नहीं ज्ञात है कि संस्कृति नाटकों से पूर्व भी यह नाट्य परम्परा अपनी समृध्दि को पहुंच चुकी है। हालांकि ये लोकनाट्य सदा ही समय एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन स्वीकार करते गये और तत्कालीन समाज के बुध्दिस्तर के अनुसार रूपांतरित होते रहे, कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि आज हमारे छत्तीसगढ़ राज्य में अच्छे, बुरे सभी लोकनाट्य हिन्दी नाटकों से तो कहीं

अधिक लोकप्रिय है। जो कुछ भी उनमें विकृतियां आई है वे उनके प्रयोक्ताओं के निम्न सांस्कृतिक स्तर के कारण है। उनके अंतराल में गहराई से उतरने पर उनमें उच्चकोटि के नाट्य–तत्वों के दर्शन होते हैं।

छत्तीसगढ़ी के अधिकांश नाटकों में समानता की दृष्टी से अनेक कुछ ऐसी बाते हैं जो इन नाटकों को एक ही कड़ी में बिठा देते हैं और सबसे अच्छी बात तो यह है कि पात्र अपने प्रवेश के साथ ही अपना–अपना परिचय देते हैं, जिससे वस्तु अपने निरर्थक विस्तार से बचकर अपने मूलतत्वों की ओर आमुख रहती हैं। लोकनाट्यों में वस्तु की ओर अधिक आग्रह नहीं होता पात्र के गुणों को और दोषी पात्रों के दोषों को भरपूर उभारा जाता है। उन्हें संघर्षरत करके कौतुहल की सृष्टि की जाती है। इस परिपाटी मे यदि पात्र पहले से अपना परिचय नहीं दे देते तो ऐसे परिस्थितियां उत्पन्न करनी पड़ती है जिनसे दर्शकों को स्वतः ही उनका परिचय मिल जाय। इस निरर्थक विस्तार एवं परिपाटी से बचने के लिए पात्र अपना परिचय देकर बहुधा वही रंगमंच पर ही बैठ जाते हैं ताकि दर्शक उनकी पहचान में गलती नहीं कर सके।

लोकनाट्यों की दूसरी अच्छाई उनकी आडम्बरहीनता है। वे कहीं भी किन्हीं स्थितियों में प्रस्तुत होने की क्षमता रखते हैं। उन्हें अपने प्रभावी बनाने के लिए रंगीन रोशनियों तथा आधुनिक ढंग से विशाल प्रेक्षालयों की आवश्यकता नहीं होती न उन्हें मंचीय चमत्कारिक उपकरणों की जरूरत होती है। लोकनाट्यों के पात्रों वादकों एवं गायकों में किसी प्रकार कमजोरी नहीं चल सकती सभी पात्रों के बुलंद हौसले होने चाहिए। उनका थोड़ा सा भी कच्चापन सारे खेल को धूलधूरित कर सकता है। गायन की तरह नाच में भी उन्हें पूर्णरूपेण पारांगत होना चाहिए।

तीसरी विशेषता जो इन लोकनाट्यों में है वह है रंगमंच उपकरणों के प्रति उनकी उदासीनता पात्रों की पोशाकें उनके मुख विन्यास कितने ही फीके क्यों न हो, यदि उनकी कला अच्छी है और गाने नाचने में वे तेज है तो उनका नाट्य भी कमजोर नहीं पड़ सकता। दर्शक पात्रों की पोशाकों को उपयुक्त एवं अनुपयुक्त की ओर ध्यान नहीं देते। स्त्रीवेश में घूंघट डाले हुए पुरूष पात्रों के चेहरे की ओर दर्शक ध्यान नहीं देते केवल उनकी अदायगी को ही महत्वपूर्ण समझते हैं। दुर्भाग्य आज अनेक लोकनाट्य दर्शकों की दुर्बलता एवं उपेक्षा के कारण निम्नस्तरीय बन गए हैं, परन्तु आज से चालीस वर्ष पूर्व यह बात नहीं थी। इन लोकनाट्यों में उच्चकोटि के हारमोनियम, तबला, ढोलक, सारंगी, झांझ बजाने वाले मौजूद थे। खिलाड़ी ऐसे जिनका

नाम – डुमन लाल ध्रुव

जन्मतिथि – 17–09–1974

शिक्षा – एम.ए. संगीत, संस्कृत, भारतीय कला का इतिहास एवं संस्कृति।

उपलब्धि – आकाशवाणी रायपुर, जगदलपुर से कविता, कहानी, लेख, नाटक का नियमित प्रसारण।

- देश के विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित।
- छ.ग. पाठ्य पुस्तक कक्षा–6वीं, 7वीं एवं 8वीं के लिए पाठ्यक्रम लेखन।
- एम.ए. पूर्व पंडित रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर के पाठ्यक्रम में लेख सम्मिलित।
- विभिन्न शोध प्रबंधों में लेखांश उद्धृत।
- छत्तीसगढ़ी लोककला के प्रबल पक्षधर।

प्रकाशित कृति –

- अंजोर बांटे के पहिली।
- छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक परिदृश्य।
- पैदल जिंदगी का कवि–नारायण लाल परमार (व्यक्तित्व–कृतित्व पर केन्द्रित)
- भाषा के भोजपत्र पर विप्लव की अग्नि ऋचा– मुकीम भारती (व्यक्तित्व–कृतित्व पर केन्द्रित)
- अमरित बरसाइस–भगवती सेन(व्यक्तित्व–कृतित्व पर केन्द्रित)
- महत्व–त्रिभुवन पांडे (व्यक्तित्व–कृतित्व पर केन्द्रित)
- सप्तपर्णी
- सोनाखान का सिंह शहीद वीरनारायण सिंह
- वीरांगना रानी दुर्गावती

सम्मान – विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं से सम्मान।

संप्रति – प्रचार–प्रसार अधिकारी, जिला पंचायत–धमतरी (छ.ग.)

पता – मुजगहन, धमतरी (छ.ग.)
पिन– 493773, मोबाईल नं. 94242102